ISSN No : 2583-3855
anuswaar@gmail.com

अनुस्वार

साहित्य एवं कला की त्रैमासिक पत्रिका

सदस्यता आवेदन

सदस्यता आवेदक का नाम ______________________________

पूरा पता पिन कोड सहित ______________________________

ईमेल आईडी व ______________ **फोन नम्बर** ______________

तारीख ______________

हस्ताक्षर

मूल्य :

सामान्य प्रति : **150 रुपये**

वार्षिक मूल्य : **600 रुपये**

द्विवार्षिक मूल्य : **1000 रुपये**

आजीवन सदस्यता : **6000 रुपय**।

भुगतान के लिए :

IndiaNetbooks Pvt. Ltd.
RBL Bank, Noida
A/c No : 409001020633
IFSC : RATN0000191

ISSN No : 2583-3855

अनुस्वार

साहित्य एवं कला की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष : 4 मूल्य : 150/- त्रैमासिक अंक : 14 अप्रैल-जून 2024

सलाहकार मंडल

सलाहकार संपादक
डॉ. प्रेम जनमेजय
गिरीश पंकज
डॉ. एस.एस.मुद्गिल
डॉ. सुशील कुमार त्रिवेदी

प्रबंध संपादक
डॉ. मनोरमा

कार्यकारी संपादक
कामिनी

मुख्य संपादक
डॉ. संजीव कुमार

अतिथि संपादक
प्रेम जनमेजय

प्रकाशक एवं स्वामी
डॉ. संजीव कुमार

प्रकाशकीय/संपादकीय कार्यालय : 'अनुस्वार', सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर)
मुद्रण कार्यालय : बालाजी ऑफसेट, (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
वितरण कार्यालय : इंडिया नेटबुक्स प्रा. लि., सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर)

© **स्वत्वाधिकार** : मुख्य संपादक : डॉ. संजीव कुमार

आवरण चित्र : शुभ्रामणि
आवरण एवं पुस्तक सज्जा : विनय माथुर

मूल्य : सामान्य प्रति : 150 रुपये
वार्षिक मूल्य : 600 रुपये
द्विवार्षिक मूल्य : 1000 रुपये
आजीवन सदस्यता : 6000 रुपये

भुगतान के लिए :
IndiaNetbooks Pvt. Ltd.
RBL Bank, Noida
A/c No : 409001020633
IFSC : RATN0000191
Paymtm No : 9893561826

नोट : भुगतान करने के उपरान्त रसीद के साथ अपना पता और फोन नं. हमें 9873561826/9810066431 पर व्हाट्सअप करें।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन का कोई भी हिस्सा, किसी भी रूप में या किसी भी प्रकार से इलेक्ट्रॉनिक, मशीनी या फोटोकॉपी या रिकॉर्डिंग द्वारा प्रतिलिपित या प्रेषित नहीं किया जा सकता।

डॉ. संजीव कुमार, सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301 गौतमबुद्ध नगर (दिल्ली एनसीआर) द्वारा स्वयं के स्वामित्व में प्रकाशित और बालाजी ऑफसेट, (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा-110032 से मुद्रित।

संपादक : डॉ. संजीव कुमार

अनुक्रम

मुख्य संपादक की ओर से	*डॉ. संजीव कुमार*	*7*
आवरण कथा	शुभ्रा मणि	10
कलाक्षेत्रे	पारूल तोमर	11
आत्मकथ्य		
लिखने की शुरूआत	ममता कालिया	13
चिंतनधारा		
और लिखना बाक़ी है	विभूति नारायण राय	29
मान-गुमान से परे एक पारदर्शी व्यक्तित्व	अनिता गोपेश	31
कल्चर-वल्चर का कथ्य सौंदर्य	श्यामसुंदर पाण्डेय	34
ऐसी शख़्सियत जिसमें है भरपूर बड़प्पन	वाज़दा खान	38
नौलखा गद्य का अनूठापन	अखिलेश	41
स्त्रियाँ...जिंदगी समुंदर जैसी है!	मनीषा आवले चौगांवकर	50
शिक्षा किस ओर	डॉ. डी.एन. सिन्हा	52
संवाद		
ममता कालिया से डॉ. संजीव कुमार का संवाद	संवादकर्ता : डॉ. संजीव कुमार	56
कथा/कहानी		
आपकी छोटी लड़की	ममता कालिया	60
पल्टू की सोच	सुषमा मुनीन्द्र	72
सकारात्मक पहल	जगदीश चंद चौहान	78
मिर्ची के रंग		
बसन्त, मोहतरमा और मैं	अरूण अणर्व खरे	83
मुक्तिमार्ग	राजशेखर चौबे	85
स्वास्थ्य साहित्य		
मंकीपॉक्स	डॉ. श्याम सखा श्याम	86

विधि साहित्य
लैंगिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन : एक व्यापक विश्लेषण डॉ. संजीव कुमार 89

कविता/ग़ज़ल
मनोज पुरोहित की कविताएँ, डॉ. संजीव कुमार की कविताएँ 91,92

पुस्तक समीक्षा
मानवीय मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति 'मेरी कहानियाँ': डॉ. रमाकांत शर्मा 94
डॉ. संजीव कुमार का अभिन्न प्रयोगधर्मी काव्य-संग्रह'मेरे हिस्से की धूप' 97

साहित्य समाचार
डॉ. संजीव कुमार को मिला गणेश शंकर विद्यार्थी सम्मान : रिपोर्ट : जयराम जय 103
कथाबिम्ब के प्रकाशन की निरंतरता के लिए उसके प्रकाशन की जिम्मेदारी हमने अधिग्रहीत कर ली है। रिपोर्ट : डॉ. संजीव कुमार 104

पुस्तकालयों के सुधार का अभूतपूर्व प्रयास डॉ. संजीव कुमार

वर्तमान में देश के स्कूलों में पुस्तकालय की व्यवस्था जीर्ण-शीर्ष रूप में है। ऐसी स्थिति में पठन-पाठन की उम्मीद करना बेमानी है। यह आवश्यक है कि पहले किताबें उनकी पहुँच में लाई जायें और तब छात्रों को पढ़ने के लिए प्रेरित किया जाये डॉ. संजीव कुमार ने बताया कि इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से उनकी संस्था बीपीए फ़ाउंडेशन ने एक अभूतपूर्व योजना तैयार की है, जिसके अंतर्गत जूनियर स्कूलों को 20,000 रु. माध्यमिक स्कूलों को 30,000 रु. तथा महाविद्यालयों को 40,000 रु. तक की पुस्तकें दान किए जाने की योजना हैं। योजना की व्यवस्था हाल ही में स्थापित वामा अकादमी के भारत में संचालित 40 चैप्टरों के द्वारा की जायेगी। योजना के वित्तपोषण के लिए बीपीए फ़ाउंडेशन व्यक्तियों और

कंपनियों से दान में धन व पुस्तकें ग्रहण करेगा। ज्ञात हो कि बीपीए फ़ाउंडेशन को दिये जाने वाले दान पर 80ळ व 12। की 50% की छूट मिलेगी। उन्होंने व्यक्तियों और कंपनियाँ से आगे बढ़ कर योगदान देने की अपील की जिससे एक नई पीढ़ी को संसाधन मुहैया कराने व ज्ञान प्राप्त करने में सुगमता रहे।

उक्त दान बीपीए फ़ाउंडेशन के बैंक खाते (ICICI bank Mayur Vihar, A/C No. 629705015913 IFSC Code ICIC0006297 पर या 9873561826 पर भेज सकते हैं।

मुख्य संपादक की कलम से

प्रिय पाठकों 'अनुस्वार' अपने चौथे वर्ष में प्रवेश कर चुकी है, और उसका चौदहवाँ अंक आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। पिछला अंक विशिष्ट वरिष्ठ व्यंग्यकार श्री प्रेम जनमेजय पर केंद्रित था। यह उनके 75वें जन्म दिवस पर लोकार्पित किया गया था।

यह सूचित करते हुए मैं संतुष्टि अनुभव कर रहा हूँ कि आपके द्वारा हमें पर्याप्त प्रशंसा प्राप्त हुई है, और हमारे सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। अप्रैल से जून 2024 की तिमाही इंडिया नेटबुक्स के लिए बहुत महत्वपूर्ण रही। क्योंकि 5 वर्ष की अल्पावधि में 1000 से अधिक पुस्तकों के प्रकाशन का रिकॉर्ड बनाने में सफलता प्राप्त हुई।

इस तिमाही में प्रकाशन हेतु प्राप्त पाण्डुलिपियों में दोगुनी वृद्धि हुई। ये आपके प्रेम का ही परिणाम है और इसके लिए हम आपके सतत् आभारी हैं। हमें आशा है कि भविष्य में हम आपको यथासंभव उत्कृष्ट प्रकाशन सेवाएँ प्रदान करते रहेंगे और हमें आपका प्रेम मिलता रहेगा।

इस अप्रैल-जून 2024 तिमाही की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही समूह द्वारा 'अंतरराष्ट्रीय वामा संस्कृति एवं साहित्य अकादमी' (वामा अकादमी) की संस्थापना, अकादमी को विश्व स्तर पर संस्थापित किया गया है, और अब तक देश के प्रत्येक राज्य में अकादमी की इकाइयाँ स्थापित की जा चुकी हैं। कुछ राज्यों में एकाधिक इकाइयाँ भी वहाँ की आवश्यकता को देखते हुए संस्थापित की गई हैं।

इस प्रकार भारत में अकादमी की कुल 41 इकाइयाँ मूर्त हुई हैं। प्रत्येक इकाई का संचालन एक महिला अध्यक्ष के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार विदेशों में अकादमी की 40 इकाइयाँ संस्थापित की गई हैं। जिसमें प्रवासी भारतीयों का अपार योगदान और सहयोग प्राप्त हुआ है। 81 इकाइयों का यह संजाल हिंदी की समृद्धि एवं विकास के लिए समर्पित है।

अकादमी के मुख्य उद्देश्य—

1. साहित्य, कला एवं संगीत के क्षेत्र में सृजनात्मकता का विकास
2. महिला सशक्तीकरण के द्वारा जीवन मूल्यों में सुधार
3. ज्ञान में उन्नति के साथ ही अभिव्यक्ति में सुधार
4. नयी प्रतिभाओं की खोज एवं उनका मार्गदर्शन
5. साहित्य सृजन के साथ-साथ शिक्षा व स्वास्थ्य
6. साहित्यिक कार्यक्रम एवं साहित्यिक भ्रमण।

अकादमी का प्रशासन एक न्यासी मंडल द्वारा किया जाएगा और सलाह के लिए विशेषज्ञों की केंद्रीय समिति बनाई गई है। जिसमें 30 प्रतिभावान महिला सदस्य शामिल की गई हैं। कार्यकारी स्तर पर एक राज्य समिति और एक अंतर्राष्ट्रीय समिति गठित की गई है। डॉ. जाकिया जुबेरी (यू.के.) अंतर्राष्ट्रीय समिति की अध्यक्ष हैं, और डॉ. अलका अग्रवाल सिगतिया राष्ट्रीय अध्यक्ष। श्रीमती स्नेहा देव अकादमी की विशिष्ट सलाहकार नियुक्त की गई हैं। अकादमी के संरक्षक मंडल में 60 वरिष्ठ साहित्यकारों को स्थान दिया गया है और पत्रकार समिति में 50 पत्रकारों को। ये विशाल

समूह हिंदी की दुनिया बनाने के लिए, और हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समृद्ध और विकसित बनाने के लिए मिल-जुल कर प्रयास करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आप सबका सहयोग, सुझाव एवं अवदान है।

समूह की दूसरी संस्था बीपीए फाउंडेशन बाल विकास, महिला सशक्तिकरण एवं हिंदी की साहित्यिक समृद्धि के लिए समर्पित है। विभिन्न सेवाओं और कार्यक्रमों के साथ फाउंडेशन ने पुस्तकालय समृद्ध योजना (Library Renewal Scheme) भी प्रस्तुत की है। जिसमें विभिन्न पुस्तकालयों में पुस्तकों के दान के द्वारा उसकी स्थिति में समृद्धि लाने का प्रयास किया जाता है, जिससे बच्चों को पढ़ने के लिए पुस्तकें उपलब्ध हो सकें। इस योजना के अंतर्गत अब तक 120 से अधिक विद्यालयों को 7000 से अधिक पुस्तकों की आपूर्ति की गई। उल्लेखनीय है कि विभिन्न साहित्यकारों द्वारा अपनी पुस्तकों के संकलन से पुस्तकों का दान भी किया गया। अभी हाल ही में श्री प्रताप सहगल, श्री प्रेम जनमेजय और श्री बलराम अग्रवाल द्वारा पुस्तकों का अवदान किया गया। हम उनके आभारी हैं और अपेक्षा करते हैं कि पुस्तकों के अवदान के द्वारा एवं धन के दान के द्वारा इस महती योजना में प्रतिभागिता सुनिश्चित करेंगे। ये दान बीपीए फाउंडेशन के आईसीआईसीआई बैंक में खाता संख्या 629705015913 आईएफएससी कोड (IFSC Code) ICIC0006297 में की जा सकती है। दान की धनराशि पेटीएम द्वारा 9873561826 पर भी की जा सकती है। इसके साथ ही bpafoundation.org पर भी कर सकते हैं। मैं आपका आह्वान करना चाहता हूँ कि आप कम-से-कम 1000/- रुपये की धनराशि अवश्य दान करें।

हिंदी के विकास के लिए वामा अकादमी द्वारा वैश्विक स्तर पर हिंदी के प्रशिक्षण के लिए एक वेबसाइट की स्थापना भी की जा रही है, जो शीघ्र ही कार्य संचालित की जाएगी। ऐसी ही अनेकानेक योजनाओं का समूह की विभिन्न संस्थाओं द्वारा प्रायोजन एवं संचालन किया जा रहा है, जो अंततः हिंदी के विकास में और उसकी समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान साबित होगा।

'अनुस्वार' एक साहित्यिक पत्रिका के तौर पर विशिष्ट रूप में साहित्यिक सामग्री प्रस्तुत करती है। इसी क्रम में समूह द्वारा कथा कहानी की प्रसिद्ध पत्रिका 'कथाबिंब' का अधिकरण कर लिया गया है, ताकि एक महत्वपूर्ण पत्रिका अप्रकाशन की स्थिति में न चली जाए। 'कथाबिंब' का तात्कालिक अंक लघुकथा विशेषांक के तौर पर शीघ्र ही प्रस्तुत किया जाएगा। हम हिंदी के विभिन्न क्षेत्रों में विकास का प्रयास कर रहे हैं और इसी प्रक्रिया में कानून की हिंदी पत्रिका का भी प्रकाशन प्रारंभ कर चुके हैं। 'विधि नायक' नाम की इस पत्रिका का प्रथम अंक आपके हाथों में पहुँच चुका है। आशा है आपको अवश्य पसंद आया होगा और इससे आपके सामान्य कानूनी ज्ञान में अवश्य वृद्धि होगी।

'अनुस्वार' का वर्तमान अंक प्रतिष्ठित एवं विख्यात साहित्यकार, उपन्यासकार एवं कथाकार आदरणीया ममता कालिया पर केंद्रित है। ममता कालिया का नाम हम सबके लिए नया नहीं है। उन्होंने निरंतर साहित्य सेवाओं में रहकर उपन्यास, कहानी-संग्रह, संस्मरण आदि प्रस्तुत किए हैं और आज वे शिखर पर विराजमान हैं। अपनी पूर्वनिर्धारित नीति के अनुसार हम उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। आशा है आप सबको पूर्व के अंक के अनुसार ही यह भी पसंद आएगा। उपरोक्त विशिष्ट सामग्री के अतिरिक्त पत्रिका के अन्य स्थाई स्तंभ, जैसे—कविता, कहानी, लघुकथा, चिकित्सा साहित्य, विधि साहित्य, खेल साहित्य, बाल साहित्य समाचार एवं समीक्षाएँ यथावत प्रस्तुत करने का प्रयास रहा है।

इन्हीं शब्दों के साथ अनुस्वार का यह 14वाँ अंक पाठकों को समर्पित है।

आपकी टिप्पणियों और सुझावों की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

—डॉ. संजीव कुमार

आवरण-कथा

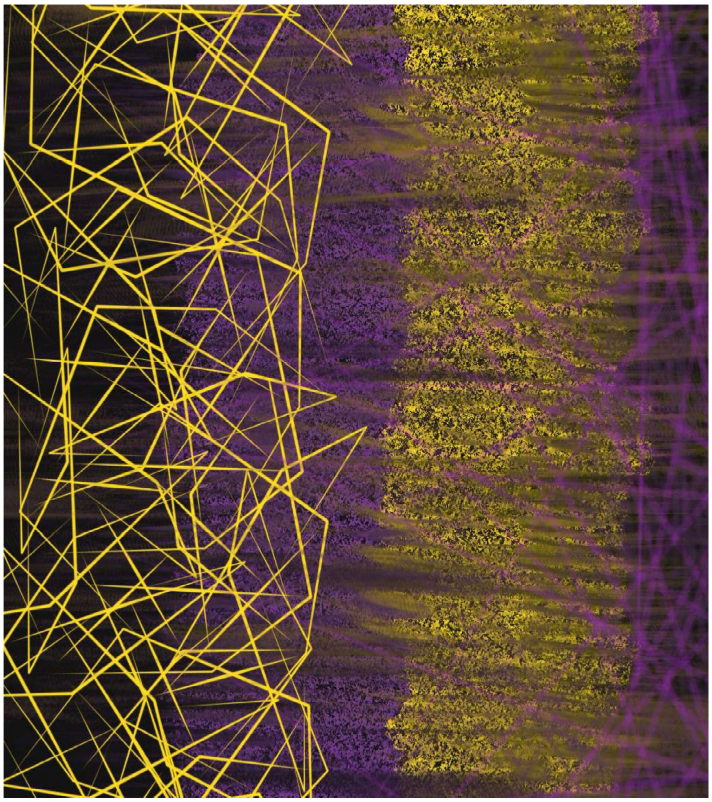

पंचतत्वों से निर्मित इस तन में सहस्रसार, ऊर्जा कुंठलिका बनकर निहित है। जो तन के तंतुओं में, शिराओं में और नाड़ियों में विद्युत ऊर्जा की तरह प्रवाहित होती है। और उससे संचालित होती है। हमारी क्रियाएँ विद्युत की यह तरंगे हमारी समस्त क्रियाओं का मूल हैं। और जीवन का सार है प्रस्तुत चित्र में उन्हें एक आधार स्तंभ के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

शुभ्रामणि : एक परिचय

शुभ्रामणि एक अमूर्त कलाकार हैं। उनकी प्रेरणा किसी विचार, प्रकृति, वस्तु, भावना या किसी उद्देश्य में छिपी होती है। रंगों और आकारों के माध्यम से कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करना उसे एक ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करता है जो कई बार शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं की जा सकती है। अमूर्त कला एक ऐसा माध्यम है जिसमें कलाकार को रंगों के सहारे नये-नये आयाम, नये-नये चित्र बनाने का अवसर मिलता है और हर बार उसकी कला एक अनोखापन लेकर उभरती है। ऐसा ही कुछ नया करने का एहसास और प्रयास शुभ्रामणि की कला का आधार है। एक सलाहकार कम्पनी में काम करते हुए एक कुशल गृहिणी के साथ-साथ अपने खाली समय का सदुपयोग वह अपनी कलात्मक एवं काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के द्वारा करती हैं। वह जहाँ एक कलाकार हैं, वहीं एक कवयित्री भी हैं।

परम्परा एवं विश्वास का सुन्दर समन्वय... लोक चित्रकला मधुबनी

लोक चित्रकला से तात्पर्य है एक ऐसी चित्रकला से, जिसे जन साधारण बिना किसी प्रशिक्षण केन्द्र में सीखे, अपनी उद्‌भावना से बनाते हैं और जो उनकी सहज अभिव्यक्ति का ही एक रूप होती है, जिसमें रीति-रिवाज, विश्वास, परम्पराएँ एवं व्यवहार आदि बसते हैं। मधुबनी नामक बिहार में एक जिला है, जिसके नाम पर आधारित यह चित्रकला, मधुबनी की स्थानीय भित्ति चित्रकला है तथा इसे मिथिला पेंटिंग के नाम से भी जाना जाता है। भारतीय लोक चित्रकलाओं में यह सबसे अधिक जानी और पहचानी जाती है। 1934 में जब बिहार में बड़े भूकम्प के कारण हुई क्षति का निरीक्षण करते समय ब्रिटिश औपनिवेशिक विलियम जी आर्चर ने, घरों की दीवारों पर चित्रित सुन्दर मधुबनी चित्रकला को देखा, तब वह इससे बहुत प्रभावित हुआ और तभी मधुबनी चित्रकला से बाहरी दुनिया का परिचय हुआ। प्रतीकात्मक चित्र और पौराणिक कथाओं के साथ ही साथ यह विवाह और जन्म के चक्र जैसी घटनाओं को चित्रित करती है। इतिहास के अनुसार इस कला की उत्पत्ति रामायण काल से मानी जाती है। कहा जाता है कि राजा जनक ने राम-सीता के ब्याह के समय पूरे राज्य को इस कला से सज्जित कराया था। इस चित्र कला के प्रमुख पात्र सिया-राम, पशु-पक्षी और प्रकृति हैं। कुछ समय पहले तक यह चित्रकारी केवल घर की तीन खास जगहों पर ही चित्रित करने की परम्परा थी। पूजा स्थान, कोहबर कक्ष और शादी या किसी खास उत्सव पर घर की बाहरी दीवारों पर, लेकिन अब रंगों की जीवंतता और सादगीपूर्ण आकृतियों में यह चित्रकला, कपड़ों एवं कैनवास पर भी खूब सज्जित की जाती है।

पारुल तोमर : एक परिचय

जन्मस्थल : हिसामपुर (जनपद बिजनौर यूपी)
शिक्षा : एम.ए., पीएचडी हिन्दी
सम्प्रति : स्वतन्त्र लेखन एवं चित्रकारिता
सम्पर्क : parulvineet@gmail.com
प्रकाशित चित्र :
हिन्दी अकादमी, अक्षर प्रकाशन, प्रलेक प्रकाशन, अमन प्रकाशन, इंडिया नेटबुक्स प्रकाशन, शुभदा बुक प्रकाशन आदि प्रकाशनों से अनेक पुस्तकों पर आवरण निरन्तर प्रकाशित।
बाल पत्रिकाओं सहित साहित्य की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में रेखांकन प्रकाशित।
सूर सागर की चौपाइयों पर आधारित, १२ बाल कृष्ण आकृतियाँ... कविताकोश के वार्षिक कैलेन्डर 2022 में प्रकाशित।
देश की प्रतिष्ठित आर्ट गैलरियों में अनेक कला प्रदर्शनियों में सहभागिता।
विभिन्न विषयों पर अनेक कलाकृतियाँ पुरस्कृत।
लेखन विधाएँ :
कविताएँ, आलेख, संस्मरण एवं व्यंग्य
कादम्बिनी, इन्द्रप्रस्थ भारती, निकट, शब्दिता, इंडिया इनसाइड, अहा जिंदगी, गिरिगौरव, सरिता, महिला अधिकार अभियान, आलोकपर्व, व्यंग्य यात्रा, जनसत्ता, वनिता, सागरिका, अनुगूँज, युद्धरत आम आदमी, जनसंदेश टाइम्म्स, प्रकृति दर्शन, प्रभातखबर, pinkshe अट्टहास, अमर उजाला, दैनिक जागरण, दैनिक जागरण सखी, सुबह सवेरे, डेली न्यूज, मधुराक्षर, भारत भास्कर, नेशनल एक्सप्रेस आदि प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।
साझा संग्रहों सहित वेबपत्रिकाओं में भी कविताएँ प्रकाशित।
एकल काव्य संग्रह : संझा बाती (2019) ए पी एन पब्लिकेशन नई दिल्ली।
विभिन्न ई-पत्र पत्रिकाओं में कविताएँ एवम् आलेख प्रकाशित।
आकाशवाणी दिल्ली से कविताएँ प्रसारित।

विशिष्ट व्यक्तित्व

ममता कालिया

ममता कालिया, बहुभाषा, बहुविधा एवं बहुविषय पर अपनी कलम चलाने वाली ममता कालिया ने कहानी, उपन्यास, संस्मरण, नाटक, यात्रा साहित्य, कविता एवं निबंधों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

विपुल साहित्य की सृजनकर्ता ममता कालिया ने मौलिक सृजन के साथ-साथ अनेक पुस्तकों का संपादन भी किया है।

विकासशील समाज में बनते-बिगड़ते संबंध प्रगति के आर्थिक, सामाजिक दबाव, स्त्री को प्रगति पर देखकर पुरुष मनोविज्ञान और कुंठाएँ तथा कामजाकी महिलाओं के संघर्ष उनके पसंदीदा विषय रहे हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की पड़ताल करेंगे अनुस्वार के इस अंक में।

आत्मकथ्य

लिखने की शुरुआत

ममता कालिया

अक्सर मुझसे पूछा जाता है कि मेरी पहली रचना क्या थी, और कब लिखी गई? यह ज़रा चक्करदार सवाल है। क्या मैं बम्बई में स्कूल की पढ़ाई के दौरान लिखी उन तीन बाल कहानियों को अपनी पहली रचना मानूँ जो एक के बाद एक सन् 1953 में, धर्मयुग में छपीं और मुझे उनका पारिश्रमिक 45 रुपये मनीऑर्डर से प्राप्त हुआ। बाल पृष्ठ पर छपी इन कहानियों में से अब केवल एक कहानी का शीर्षक याद है—'चतुर चोर'। यह कहानी मुझे दादी ने सुनाई थी। उसके बाद मैं पढ़ाई-लिखाई में मशगूल हो गई। हर दो साल में पापा के तबादले के कारण मेरा स्कूल बदल जाता। नए स्कूल में सब चेहरे अजनबी और आक्रामक लगते। बम्बई में हमारा घर अँधेरी पूर्व जमनालाल बजाज नगर में था जिसे सब बम्मनपुरी कहते हैं। वहाँ से हमें दो बसें बदल कर सेंट ब्लेज़ेज़े कॉन्वेंट जाना होता। पूर्व से पश्चिम अंधेरी जाने के लिए स्टेशन पर लम्बा ओवरब्रिज पार करना पड़ता। कन्धे पर भारी बस्ता, हाथ में डकबैंक का रेनकोट और आँखों पर चढ़ा नया-नया चश्मा, जिसकी अभी आदत नहीं पड़ी थी। इस चश्मे के कारण क्लास के सारे लड़कों ने मेरा नाम चशमिश रख दिया था। लड़के बहुत उत्पाती थे और टीचर खुराफाती। ले-दे कर हिन्दी की शिक्षिका मिस चन्डोक अच्छी थीं और वे प्रसन्नमुख बात करतीं। उनके विषय में मेरे नम्बर भी अच्छे आते। धीरे-धीरे टिफिन टाइम में लड़कियों से दोस्ती होने लगी। लूडर्स परैरा, गर्टरूड टॉमस और रेणुका शिवदासानी।

स्कूल और घर में लाख चुनौतियाँ थीं, पर मैंने उन पर कभी नहीं लिखा। पढ़ाई में कुछ कर दिखाना ही एकमात्र लक्ष्य था।

बम्बई और पूना का प्रवास किताबों का रट्टा मारने में बीत गया। अब जब पूना के वाडिया कॉलेज में फर्स्टइयर में दाखिला भी हो गया कि, तभी लो पापा का तबादला इन्दौर हो गया। पहुँचे तो इन्दौर हम सब झींकते, खीझते मगर थोड़े दिन रह कर देखा कि यह शहर ज़्यादा प्यारा-दुलारा और दमदार है। यह चौंकाता या चिढ़ाता नहीं, पास बिठाता है। घर में कई अखबार आने लगे जिनमें रविवार को साहित्यिक रचनाओं के लिए अलग परिशिष्ट होता। क्रिश्चियन कॉलेज में मैंने एक विषय इंगलिश लिटरेचर ले रखा था, मगर कॉलेज का माहौल हिन्दीमय था। आए दिन वहाँ कवि गोष्ठी होती। शहर में भी कवि-सम्मेलन और संगीत सभाएँ आयोजित होती रहतीं।

हम इन्दौर के रेज़िडेन्सी इलाके में बड़े से बँगले में रहने लगे। गर्मी की रातों में हम चारों की चारपाई बाहर लॉन में बिछाई जाती। बाकायदा मसहरी समेत। काम करने वाले कई सेवक थे जो बँगले से जुड़े आउटहाउस में रहते थे।

बिस्तर में पड़े-पड़े देर तक मुझे नींद न आती। मैं चाँद निहारा करती। मसहरी की जाली से चाँद रहस्यमय और धुंधला दिखता। कुछ सोलह साल की उम्र भी अपना रंग दिखा रही थी। कभी रात गए तक मैं चाँद और रात को लेकर मन में तुकबंदियाँ बैठाती रहती। उन्हीं दिनों मैंने लिखी यह कविता—

'कल रात चाँदनी चोरी से
मसहरी में घुस आई थी।
पहली बार तब मुझको लगा ऐसा
कि सोलह साल की इस उम्र के मन में
कहीं कोई बड़ी प्यारी बुराई थी।'

यह कविता जागरण के रविवारीय परिशिष्ट में छपी। इससे भी पहले मेरी कविता, 'प्रयोगवादी प्रियतम' 'नई

दुनिया' के रविवारीय पृष्ठ पर छपकर चर्चित हो चुकी थी। उस दौर की समस्त कविताएँ प्रेम के मोह और विमोह की प्रतिक्रियाएँ थीं। इस लिहाज से प्रेम; रचनाओं में पहले आया, जीवन में बहुत बाद में। कई कविताओं में व्यंग्य और क्रोध भी व्यक्त हुआ जो आगे चल कर अकविता की दहलीज़ बना।

आकाशवाणी इन्दौर में संगीत सभाओं और कवि-सम्मेलनों का बोलबाला था। तब सब सभाएँ लाइव हुआ करतीं। बड़े से बड़े संगीत कलाकार को सुनने का अवसर इन्दौर में मिला। कभी कुमार गन्धर्व को कलेजे पर हाथ रख कर निर्गुण के बोल उठाते देखते, तो कभी बेगम अख्तर को सफेद साड़ी में विन्यस्त गालिब गाते सुनते। मैं इन सब कलाकारों की आवाज़ और अदा की मुहब्बत में पड़ जाती। उनके गायन के समानांतर मेरे अन्दर कविताएँ हिलोरें लेने लगतीं। लेखक जीवनभर किसी न किसी के प्रेम में मुब्तिला रहता ही है।

कुछ पत्रिकाओं ने भी मेरे लिखने के शौक को खूब बढ़ावा दिया। अजमेर से निकलने वाली पत्रिका 'लहर' के प्रकाश जैन हर बार एक लाइन का पोस्टकार्ड भेज देते, 'अगली कविता कब भेज रही हो?'

मेरे पंख लग जाते। दिल-दिमाग मौलिक हो उठता। 'लहर' का पता मुँहजुबानी याद रहता। शायद पोस्ट बॉक्स 82, अजमेर था। कभी अजमेर जाना नहीं हुआ, मगर वह शहर अपना खास लगता। इसी तरह कलकत्ते से 'ज्ञानोदय' और 'सुप्रभात' पत्रिकाओं के सम्पादकों के खत मुझसे लिखवा डालते, कभी कविता, कभी कहानी। प्रकाश जैन ने तो कई बार एकांकी भी लिखवाया।

वे भी क्या दिन थे! न कभी रचना टाइप करवाई, न कॉपी रखी। सोचा, जब छप जाएगी तो अपने आप सैकड़ों कॉपियाँ हो जाएंगी। लड़कपन का गुरुर ऐसा कि कभी यह नहीं लगा कि रचना अस्वीकृत भी हो सकती है। 20 पैसे की डाक टिकट से देशभर में रचना भेजी। बुक पोस्ट। आज तक कोई रचना न कभी खोई, न लौटी। सब छपती गईं। कलम चलती रही। जब तक मैं एम. ए. करने दिल्ली विश्वविद्यालय आई, मेरी रचनाएँ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'कादम्बिनी' और 'आवेश' में छपने लगी थीं। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' ने एक कहानी प्रतियोगिता रखी, जिसमें मैंने कहानी भेजी। मेरी कहानी 'ऊँचे-ऊँचे कंगूरे' को सर्वश्रेष्ठ कहानी का पुरस्कार मिला। हालाँकि मैं तब कविता के इलाके में थी, कहानी लिखने से कोई परहेज़ नहीं था। अक्सर यह भी लगता कि कहानी हमें खुलने के लिए ज्यादा बड़ा आकाश देती है।

अफसोस, आज उस पहली कहानी की कोई लिखित या मुद्रित प्रतिलिपि मेरे पास नहीं बची है। छप गई, लोगों ने पढ़ ली, पुरस्कार की धनराशि खर्च कर डाली। कागज़ संभालने जैसा नीरस और उबाऊ काम न तब किया, न अब करती हूँ। कई बार सोचती हूँ फेसबुक पर अपील लगाऊँ कि क्या किसी के पास मेरी वह कहानी मिलेगी। ऊँचे-ऊँचे कंगूरे के अभाव में मैं 'छुटकारा' को ही अपनी पहली कहानी मान लेती हूँ।

मेरी रचना प्रक्रिया

अगर सूचना विज्ञान में ऐसा कम्प्यूटर निकल आए जो आपकी दिमागी प्रक्रिया को ज्यों-का-त्यों मॉनिटर पर उतार दे तो यकीन मानिए मेरी रचना प्रक्रिया का ऐसा पेचीदा संजाल सामने आए कि मैं खुद उसका विश्लेषण न कर पाऊँ। कोई ऊर्जा तरंग है जो चलती चली जाती है, दिमाग में एक बार में पाँच-पाँच कहानियाँ लिखी जा रही हैं, कविताएँ तो इतनी धकापेल से आ रही हैं कि पूरा कविता संग्रह आँखों के सामने है, मय शीर्षक और ब्लर्ब के दिमाग में तीन उपन्यास एक साथ चल रहे हैं।

ये सारी सक्रियताएँ तभी तक हैं जब तक हाथ खाली नहीं हैं। मैं अपनी मेज पर आकर बैठी नहीं कि सब छू-मंतर। किसी पात्र का नाम तक याद नहीं रहता। अपने नाम के सिवा कोई नाम तक नहीं सूझता। पाँच मिनट के अंदर प्यास लगती है, सात मिनट के अंदर चयास और पंद्रह मिनट में तो नींद आने लगती है। मैं बड़ी दुखी होकर कहती हूं-'रोज मुझे एक पेज लिखते-लिखत नींद आ जाती है, हिंदी साहित्य का क्या होगा!' तब मेरे प्रतिपल के साथी रवि हँसकर कहते हैं-'हिंदी साहित्य का कल्याण ही होगा, तुम चैन से सो जाओ।'

मेरे घर में आज भी मेरा लिखना या लेखक होना हास्य-विनोद का विषय है। न केवल इसे विशेष नहीं माना जाता, इसे अक्सर कोंचकर, खींचकर, दबाकर परखा भी जाता है। बड़ा बेटा अन्नू कहता है- 'माँ तुम कुछ भी कर लो, कभी शोभा डे या खुशवंत सिंह नहीं बन सकती।' अगर पलटकर मैं कहूँ-'शोभा डे या खुशवंत सिंह भी ममता कालिया नहीं बन सकते।' तो अन्नू अपने दोस्तों सहित ठहाका लगाएगा। अपने जवाब से मेरा मरियल आत्मविश्वास भले ही थोड़ा जीवन पा जाए, अन्नू एंड कंपनी के नजरिए में कोई बदलाव नहीं आएगा।

छोटा बेटा मन्नू कम्प्यूटर विशेषज्ञ है। उसने मेरी वेबसाइट बनाई है। जब उससे अपनी कोई रचना वेबसाइट पर डालने को कहती हूँ, वह बड़े प्रोफेशनल तरीके से रचना डाल देता है, पर उससे पूछो-'उसे कहानी कैसी लगी?' वह कहेगा- 'कौन-सी कहानी? मैंने पढ़ी ही नहीं। आपने डालने को कहा, डाल दी।' मुझे इस सबसे कोई दुख नहीं होता, न ही निराशा होती है। जिन रचनाकारों को घर-परिवार में बहुत प्रोत्साहन मिलता है, वे बड़े हास्यास्पद तरीके से महत्वाकांक्षी हो जाते हैं, भले, उनमें प्रतिभा हो न हो।

मेरी रचना प्रक्रिया के बारे में मेरे मित्र रवींद्र कालिया का कहना है—'मैंने ममता को विचित्र स्थितियों में लेखन करते देखा है। दूध उफनकर फैल रहा है, ममता का ध्यान उधर नहीं है, वह तल्लीनता से लिख रही है। ट्रेन में वही लिख सकती है, मैं तो पढ़ भी नहीं सकता। उसने लिखा हुआ कभी रिवाइज नहीं किया, जो लिख दिया, वह अंतिम है। अगर मैंने कभी कोई सलाह-मशविरा दे दिया और उसे जँच गया तो उसने वह रचना ही खारिज कर दी। यह देखकर मैंने सुझाव देना ही छोड़ दिया है। मुझे किसी रचना को साफ करते हुए देखेगी तो सलाह देगी-'इसे ऐसे ही रहने दो। रिवाइज करके चौपट कर दोगे।' मेरी बहुत कम रचनाएं ऐसी होंगी, जिन्हें मैंने कम-से-कम दो बार न लिखा हो। ममता को तो मैंने उपन्यास भी साफ करते नहीं देखा। खुदा की उस पर ऐसी रहमत है। ममता के लिए लेखन सबसे प्यारा पलायन भी है। वह किसी बात से परेशान होगी तो लिखने बैठ जाएगी। उसके बाद एकदम संतुलित हो जाएगी...।'

यही अच्छी बात है। प्रकट, हम एक-दूसरे पर लाख लतीफे सुनाएँ, जुमलेबाजी करें, हम एक-दूसरे की सृजनात्मक जरूरतें पहचानते हैं, फिर भी मैं ज्यादा जोखिम मोल नहीं लेती। मेरे लिखने का समय आजकल रात बारह बजे बाद का है, इसलिए अब चौके-चूल्हे और कलम-कागज में कोई स्पर्द्धा नहीं है। जब मैं लिखने बैठती हूँ, घर में मच्छरों के अलावा और सब सो जाते हैं।

सुविख्यात विद्वान आलोचक डॉ. नामवर सिंह के बारे में उनके भाई काशीनाथ सिंह ने लिखा है—'वे प्रायः खाने-पीने के बाद रात के बारह बजे दीवार की ओर मुँह करके बैठ जाते। हाथ में कलम होती और घुटनों पर पैड। कागज बिना लाइनों का कोरा होता। उनके लिए सबसे मुश्किल होता पहला वाक्य। उन्हें जितना भी वक्त लगता, पहला वाक्य लिखने में लगता।' मुझे यह पढ़कर बड़ा थ्रिल हुआ कि नामवरजी जैसे धुरँधर साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया लगभग वही है, जो हम सब छुटभैया की, वही आदतें। मेरे सामने रूलदार कागज आ जाए तो मैं लिखने का इरादा ही छोड़ देती हूँ। कुछ वर्ष पहले जब स्याही वाले पेन से रचना लिखी जाती थी, मैं अपने पेन संभालकर रखती थी। अब तो डॉट पेन और जेल पेन ने लिखावट का सारा चरित्र ही नष्ट कर दिया है। न कहीं अपने कोण हैं, न गोलाइयाँ, हमारे घर में दो फुलटाइम लेखक हैं, पर जब लिखने बैठो तब क्या मजाल कि कोई कलम चलती हालत में मिल जाए। ज्यादातर हम दोनों काले डॉट पेन इस्तेमाल करते हैं पर नहीं, जब लिखना होगा तो हरदम नीला पेन ही हाथ आएगा। मेरी आदत है, मैं अपनी मेज पर सब चीजें कागज, पिन, टेप, कलम फैलाकर छोड़ देती हूँ। फैली हुई चीजों में से मतलब की चीज जल्दी और आसानी से ढूँढ़ी जा सकती है। रवि को सलीका पसंद है। वे अपने कमरे में सब चीजें यथास्थान रखते हैं। कभी-कभी तो वे कमरे को करीना देने में इतने थक जाते हैं कि लिखना मुल्तवी कर एक नींद ले लेते हैं। मेरा कमरा ऊपर है। अक्सर मेरा मन नीचे के कमरों में चल रही गतिविधि में इतना रमा रहता है कि ऊपर जाने की नौबत ही नहीं आती, कई-कई रोज। अगर मैं ऊपर चली

जाऊँ तो घंटों नीचे जाने का नंबर नहीं आता। नहीं, इतनी देर लिखती नहीं हूँ, कोई संदर्भ ढूँढ़ने के चक्कर में कोई दिलचस्प किताब हाथ लग जाती है और समय का पता ही नहीं चलता।'

मेरे खयाल से एक लेखक अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया को जितना समझता है, उसे कहीं ज्यादा उसे उसके समकालीन व अग्रज रचनाकार समझते हैं। समय-समय पर कई वरिष्ठ और साथी लेखकों ने मेरी रचना-प्रक्रिया पर आश्चर्य और आक्रोश दोनों प्रकट किए हैं। उपेंद्रनाथ 'अश्क' में यह विशेषता थी कि वे नए से नए लेखक को पढ़ते थे और उस पर अपनी राय जताते। उन्होंने लिखा—'मैं यही कह सकता हूँ कि ममता की रचनाओं में हमेशा अपूर्व पठनीयता रही है। पहले वाक्य से उसकी रचना मन को बाँध लेती है और अपने साथ बहाए लिए चलती है। कुछ उसी तरह जैसे उर्दू में कृष्णचंदर और हिंदी में जैनेंद्र की रचनाएँ। यथार्थ का आग्रह न कृष्ण का था, न जैनेंद्र का, लेकिन ममता रूमानी या काल्पनिक कहानियाँ नहीं लिखती। उसकी कहानियां जीवन के ठोस धरातल पर टिकी हैं। निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के छोटे-छोटे ब्यौरों का गुंफन, नश्तर का सा काटता तीखा व्यंग्य और चुस्त-चुटीले जुमले उसकी कहानियों के प्रमुख गुण हैं। ममता को बहुत अच्छी कहानियों में तीन-चार कहानियों का मैं विशेष रूप से उल्लेख करना चाहूँगा-'लड़के', 'बसंत- सिर्फ एक तारीख', 'माँ' और 'आपकी छोटी लड़की।' अभी पिछले दिनों मेरे पहले उपन्यास 'बेघर' का नवीन संस्करण वाणी प्रकाशन से छपकर आया तो उसमें अरविंद जैन का लेख 'बेघर के पच्चीस वर्ष अर्थात् कौमार्य की अग्नि परीक्षा' शामिल था। लगा कि यह रचना पच्चीस वर्ष (अब पचास) जीवित और प्रासंगिक रह ली। जब यह रचना लिखी थी तब यह कतई नहीं सोचा था कि इसे इतना लंबा जीवन मिलेगा।

1970 में मैं मुंबई में हॉस्टल में रह रही थी और रवि इलाहाबाद में अपने पैर जमाने के लिए संघर्ष कर रहे थे। रवि ने सुझाया कि मैं छोटी-छोटी कहानियों की बजाय उपन्यास लिखने की कोशिश कर देखूँ। मेरे दिमाग में दो अलग-अलग स्मृति-चित्र थे, जो लिखते समय गड्डमड्ड होते रहे। रचना बनती भी इसी तरह है, कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा। जब मैं पुणे में स्कूल में पढ़ती थी, ताड़ीवाला रोड पर हमारे घर के पास एक लड़की रहती थी, जिसने अपने अविवाहित रह जाने की त्रासदी मम्मी को सुनाई थी। उसका प्रेमी उसे रोज घर ले जाता था। उसके साथ उसने शादी की सारी खरीदारी की, घर की तैयारी की, पर जब विवाह की तारीख तय करने का समय आया, वह एकदम पीछे हट गया। उसने कहा—'मैं किसी ऐसी-वैसी लड़की से शादी नहीं करूँगा।' कांता बेन कला निकेतन और रूपकला से खरीदी साड़ियों के ढेर के बीच बैठी रह गई और प्रेमी उसकी ज़िंदगी से निकल गया। दूसरा स्मृति-चित्र था एक मित्र-परिवार का, जिसमें पति बड़े खुले दिल का संवेदनशील व्यक्ति था। उसकी पत्नी उतनी ही ठस्स, ठोस और शंकालु महिला थी। वह लगातार अपने पति पर शक करती थी, उसकी जासूसी करती थी और जब वह अकस्मात चल बसा, पत्नी यही विलाप करती रह गई—'ये तो मेरे खेलने-खाने के दिन थे' परमजीत और रमा में इन दोनों के नक्श आए हैं।

वैसे 'बेघर' में कथा कई जगह से और खुलती है, पर मेरी एक साँस में लिखने की आदत कई कथा-स्थितियों के साथ न्याय नहीं कर पाती। संजीवनी का एकाकीपन एक अलग शोध की माँग करता है, जो आज तक पूरा नहीं हो पाया। एक बार लिख डालने पर दुबारा किसी रचना पर मेहनत करना, संशोधन करना, मैंने आज तक नहीं सीखा, अब क्या सीखूँगी! इसलिए कभी कहीं पुरानी रचना छपवाने का सुख भी हासिल नहीं किया। जितनी देर में मैं पुरानी रचना ढूँढूँगी उतने में तो नई-नकोर रचना लिख डालूँगी।

कई बार किसी और की कही या लिखी बात मेरे अंदर ऐसा बवाल मचा देती है कि बवंडर की तरह लिख डालती हूँ मैं। राजेन्द्र यादव का लेख 'होना/सोना खूबसूरत दुश्मन के साथ' पढ़कर मेरा यही हाल हुआ। राजेन्द्र जी के नाकाबिले-बर्दाश्त दाँव-पेंच के खिलाफ मैंने पचास-साठ कविताएँ लिख डालीं, जिनका सामूहिक शीर्षक रखा 'खांटी घरेलू औरत'। साहित्य के सुधी पाठक शीर्षक से ही समझ गए होंगे मेरा आशय क्या था।

मुझे कोई गुस्सा दिला दे, घर में, दोस्तों में, दुनिया में

तो उस वक्त अच्छा तो यही हो कि मेरे सामने कागज-कलम न आए। मैं उस वक्त कविता तो क्या पूरा उपन्यास दन्न-से लिख सकती हूँ। कागज पर बाद में उतरती है रचना, पर दिमाग में तो पूरी ओरिएंट पेपर मिल चालू रहती है। अब मुझे इतना मान लेना चाहिए कि लिखने के समस्त नियमों, परिपाटियों और प्रयोगों को धता बताते हुए मेरे दिल-दिमाग का बावलापन ही मेरी रचनाओं का सबसे बड़ा कारण और कारक रहा है। जब मैं अन्य रचनाकारों का स्टडी रूम देखती हूँ तो मैं दंग रह जाती हूँ। इतने साफ-सुथरे कमरों में सिर्फ शल्य क्रिया की जा सकती है, सृजन क्रिया नहीं। बहुत अधिक सुविधाओं में मेरी रचना-शैली ठिठुर जाती है। मैंने जब 'प्रेम कहानी' उपन्यास लिखा, बहुत से पाठक समय-समय पर मुझसे मिलने आए। सब जानना चाहते थे, मैंने इतनी तरल प्रेम कथा किस तरह लिखी, तब बच्चे छोटे थे। मैंने दिखाया उन्हें। जिस कमरे में मैं बैठकर लिखती थी, वहीं बच्चे गेंद-तड़ी खेलते रहते थे, पंचम सुर में स्टीरियो बजता रहता था, जब-तब मेरी सेविका आकर कान पर चिल्लाती रहती थी। मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता था। वर्षों मेरे पास लिखने के लिए न अकेला कमरा था, न मेज। मैं बच्चों की मेज पर काम करती थी या बिस्तर पर बैठकर घुटनों पर कागज का बोर्ड रखकर। तब मैं कहती थी—

'विस्तृत घर का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना।'

जब से हम मेहदौरी कॉलोनी के अपने घर में आये हैं, मेरे पास एक कमरा और मेज है, पर रवि को कमरों का इतिहास-भूगोल बदलने का जबरदस्त शौक है। लिहाजा कभी मेरा कमरा नीचे चला जाता है, कभी ऊपर। कभी घर की समस्त धूलभरी किताबें, एक्स्ट्रा कुर्सियाँ, फोटो, कैलेंडर, गोया हर वह चीज जो कहीं फिट न हो, मेरे कमरे में समा जाती है। कभी मैं खुद ही कमरे से भागी फिरती हूँ। शाम-रात के दो-एक घंटे केबिल टीवी की भेंट चढ़ जाते हैं, आध-एक घंटा टाइम्स का क्रॉसवर्ड ले लेता है। रसोई मेरा रसिक पलायन है। मैं अचानक कोई ऐसा व्यंजन बनाने की कोशिश में लग जाती हूँ, जो मुझे पढ़कर भी पल्ले नहीं पड़ता। एक साल पहले तक कॉलेज के काम भी इसी पलायनवाद में शामिल थे। एक लेखक के पास न लिखने के कितने बहाने होते हैं।

जब लिखना शुरू किया था, मैं सोचा करती थी कि साधन होने पर मैं एक अखबार निकालूँगी 'ममता टाइम्स'। हमने प्रेस तो लगाया, पर उसमें से 'ममता टाइम्स' नहीं निकला और बहुत-सा साहित्य वहाँ छपा। इलाहाबाद ने मेरे लेखन को जो धूप-ताप और तेवर दिया वह हिंदुस्तान के और किसी भी नगर में संभव नहीं था।

अब थोड़ी चर्चा उस अल्हड़ वक्त की, जब शब्द की शक्ति और करिश्मे का अनायास आभास मिला। होश संभालते ही दो बातें मेरे लिए अविस्मरणीय बन गईं। मैंने नया-नया लिखना सीखा था। मैं आँगन में, दीवारों पर, स्लेट पर अपने अक्षर-ज्ञान का प्रदर्शन करती रहती थी। बैठक की दीवार पर मिट्‌टी की एक सुंदर-सी मछली टंगी थी। एक दिन मैं कुर्सी पर खड़ी होकर मछली के नीचे लिख रही थी— 'मछली', तभी हाथ उल्टा और मछली व कुर्सी समेत मैं धड़ाम से गिर गई। माँ ने मुझे एक थप्पड़ मारते हुए कहा- 'आने दे आज पापा को, तेरी वह पिटाई होगी कि सब लिखना-विखना भूल जाएगी'।

मैं अपना दुखता सिर और आहत मन लिए काँपती रही। एक प्रार्थना मेरे अंदर निरंतर चलती रही—हे भगवान, पापा से शिकायत न हो, वे तो जान ही निकाल देंगे।

पापा का क्रोध हमारी स्मृतियों में इस कदर भयंकर था कि उनके दफ्तर से लौटने के समय हम एकदम दुबक जाते। भारत चाचा के बच्चों ने उनका नाम 'डाँटने वाले ताऊजी' रख रखा था। जैसे हो पापा दफ्तर से आए, बैठक में घुसे कि उनकी नजर सूनी दीवार पर पड़ी।

'मछली कहाँ गई?' पापा ने पूछा।

माँ ने कहा—'पूछो मुन्नी से। सारा दिन शैतानी करती रहती है। इसी ने तोड़ी है।'

मेरा कान उमेठकर पूछा गया—'कैसे टूटी?'

मैंने रुआँसी आवाज में कहा— 'पापा, हम मछली के नीचे लिख रहे थे मछली। जैसे ही हमने 'ली' की टोपी लगाई, मछली गिर पड़ी। हमने नहीं तोड़ी पापा।'

आश्चर्य! पापा ने कुछ नहीं कहा। माँ दृश्य से सरककर

रसोई में चली गई। पापा ने अपने कागजों में से एक कागज मुझे देकर कहा– 'चलो, इस पर बीस बार मछली लिखकर दिखाओ।'

इस तरह एक जालिम शाम का शांत, अनाटकीय अवसान हुआ। लिखित शब्द की शक्ति से यह मेरा पहला परिचय था। परिचय इस सत्य से भी हुआ, पिता के जीवन में पढ़ने-लिखने का क्या स्थान था।

दूसरी घटना एक गोष्ठी की है। हमारे घर गोष्ठी का आयोजन था। माँ रसोई में केवड़े का पानी और इलायची की चाय बना रही थीं। बैठक में धवल चादरें बिछी थीं। एक-एक कर साहित्यकार आते जा रहे थे– विष्णु प्रभाकर, विजयेंद्र स्नातक, इंद्र विद्यावाचस्पति, प्रभाकर माचवे, श्रीकृष्ण, रांगेय राघव, देवराज दिनेश और बाबूराम पालीवाल। अंत में आए जैनेंद्र कुमार जिन्हें अपनी कहानी का पाठ करना था। पापा ने उन्हें श्रद्धापूर्वक झुककर प्रणाम किया। कहानी मेरी समझ में नहीं आई, पर मैंने देखा, सब श्रोता मंत्रमुग्ध जैनेंद्रजी को सुन रहे थे। गोष्ठी खत्म होने पर सबको विदा देने के बाद पापा कमरे में आए और बोले–'यादगार दिन है आज। जैनेंद्रजी ने मेरे आग्रह का सम्मान किया। इतने बड़े रचनाकार और कोई ऐंठ नहीं उनमें।'

पापा से हम डरते भी थे और उनकी श्रद्धा भी करते थे। जैनेंद्रजी श्रद्धा के श्रद्धापात्र थे, यानी हमारे लिए ध्रुवतारा। उस दिन मुझे लगा बड़ी होकर मैं भी कहानियां लिखा करूँगी, तब पापा मानेंगे मुझे।

बाद के वर्षों में नागपुर, बंबई, पूना, इंदौर, भोपाल और वापस दिल्ली में रहते हुए हर जगह मैंने पाया कि मेरे पिता के लिए कलाकार सर्वोच्च आदर का पात्र रहा। वे पढ़ते, बहस करते और अंत में कायल होते। उन जैसा जटिल और प्रबुद्ध पाठक लेखक के लिए चुनौती और चेतावनी दोनों था।

इसी बीच में एक बात और याद आ रही है। 1947 का जमाना था। पापा गाजियाबाद के शम्भूदयाल इंटर कॉलेज में प्रिंसिपल बन गये थे। जब तक हमें कोई मकान नहीं मिला, कॉलेज की साइंस लैब में हमारे रहने का इंतजाम किया गया। आये दिन अफवाह उड़ती, स्टेशन के उस पार की बस्ती के लोग छुरा लेकर आने वाले हैं, वे एक-एक को काट डालेंगे। कॉलेज की छत के ऊपर बहुत-सा पुआल डाला हुआ था। 'अल्लाह-हू-अकबर' के नारे सुनते ही हम लोगों को पुआल में छुपा दिया जाता। थोड़ी देर बाद चौकीदार आकर बताता–वे लोग चले गये, आप सब बाहर आ जाएं। स्कूल में बच्चे ठोड़ी के रबरबैंड को सन्-सन् बजाते हुए कहते–'टोडी बच्चा हाय-हाय'। कॉलेज से सटा जिला अस्पताल था। बीच की दीवार से उस पार देखने पर हमें रोज तरह-तरह की घटनाओं का पता चलता। एक दिन हम बहनों ने देखा, बुरका पहने एक औरत अस्पताल की डिस्पेंसरी के बाहर बरामदे में बेंच पर बैठी थी। अस्पताल का कंपाउंडर उसके गाल पर सुई से टांके लगा रहा था। और वह बुरी तरह चिल्ला रही थी, उसका पति इससे बेपरवाह एक तरफ खड़ा था और कंपाउंडर उसका गाल ऐसे सी रहा था, जैसे मोची जूता सीता है। दीदी ने कहा–'देखो, इनके हाथों में तो छुरा नहीं है, कान्छा हमें यों ही डराता रहता है, उसके बाद 'अल्लाह-हू-अकबर' सुनकर हमें वैसा डर कभी नहीं लगा, जैसा पहले लगा करता था।

1948 की वह एक शाम थी। हमारे घर का चिबिल्ला मसखरा सेवक शिवचरन बाजार से दौड़ा-दौड़ा घर आया और दहाड़ें मारकर रोने लगा। वह रोता जा रहा था और चिल्ला रहा था–'महात्मा गाँधी के गोली लग गई। अब मैं किसको बापू कहूँगा। बीबी जी आज शाम चूल्हा नहीं जलेगा, हाँ नहीं तो....।'

अगले दिन हम सब राजघाट गये, लाखों की भीड़ में क्रंदन और चीत्कार के अलावा और कुछ नहीं था। बड़े-बड़े नेता गाँधी जी की चिता के पास मुँह लटकाये, सिर झुकाये खड़े थे। हर एक के मुख पर यह भाव था, मानो उन्हीं की गलती से गाँधी जी की हत्या हुई है। शोक की उस घड़ी में मुझे याद आया; कुछ साल पहले का समय, जब सुबह-सुबह गाँधी जी की प्रार्थना-सभा दिखाने के लिए पापा हमें रामलीला मैदान ले गये थे। हम काफी आगे बैठे थे। सभा स्थल पर गाँधी जी के आगमन पर सब लोग उनके सम्मान में खड़े हुए। बीच के रास्ते से ही गुजरते हुए महात्मा गाँधी बच्चों की तरफ थोड़ी देर टिके, ठिठके। एकाएक मैंने उनका हाथ

पकड़ कर पूछा, 'बाबा, आप नंगे क्यों रहते हैं?' गाँधी जी हँस दिये उन्होंने मुझे गोदी में उठा लिया और मेरा माथा चूमकर जमीन पर खड़ा कर दिया। इस चेष्टा में कुछ भी कृत्रिम या प्रायोजित नहीं था, नहीं तो कैमरा इस दृश्य को कैद करने के लिए तैनात रहता।

बचपन में देखे दृश्य बिंब कितने लंबे समय साथ चलते हैं, यह आज पता चलता है। वे सब हमारे मानस का हंस बनते हैं। हमारे छोटे-से परिवार में कुछ तो पापा के आदर्शवाद के कारण और कुछ मम्मी के डावाँडोल स्वास्थ्य के चलते परिश्रम की महिमा अपार थी। आज जब मेरे बच्चे मुझे हर समय किसी-न-किसी काम में जुटे देखते हैं, वे हैरान होते हैं। उन्हें नहीं पता कि हमारे घर में बच्चों का दोपहर को लेटना या सोना नितांत वर्जित था। खाली समय में हमें मोटी-मोटी पुस्तकें दी जातीं। बाकायदा होमवर्क की तरह।

'नेहरूजी की आत्मकथा का एक चैप्टर पढ़कर रखना, मैं शाम को आकर पूछूँगा।' पापा कहते और हमारी दोपहरी नेहरूजी के नाम लिख जाती।

मां के मेडिकल बिल्स की लिस्ट बनाना, बिजली और फोन का बिल अदा करने जाना, डाकखाने में रजिस्ट्री करना, घर के लिए दूध और तरकारी लाना—सब मेरे हिस्से के काम थे। इन जिम्मेदारियों से मेरे व्यवहार और व्यक्तित्व में शुरू से एक उन्मुक्त स्वयंसेवक के गुण विकसित होते गये। कभी अपने आपको लड़की मानकर डरना, सीमित या संकुचित होना, मेरे स्वभाव में शामिल नहीं हुआ। कम आयु में ही बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ने से (जिनका अधिकांश भाग समझ में भी नहीं आता था) सतत् पढ़ने का अभ्यास हो गया। साहित्य कर्म और साहित्यकार के प्रति पिता का आदरभाव देखकर जीवन का लक्ष्य भी निर्धारित हो चला। वे समस्त स्त्रियोचित भंगिमाएँ—घबराना, शरमाना, चुप रहना, मुझसे बहुत पीछे छूट गईं थीं। इंदौर में क्रिश्चियन कॉलेज के मंच से जब-जब वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में अपने छात्र प्रतिद्वंद्वियों को हराया, हारे हुए लड़कों ने घबराकर मेरा नामकरण किया—'मिस एटम बम'।

जहाँ बड़े शहर व्यक्ति की निजता, विशिष्टता, आवेग-संवर्गों को लील जाते हैं, छोटे शहर इन गुणों को सघन, मुखर और केंद्रित करने में सहायक होते हैं। इंदौर क्रिश्चियन कॉलेज में आये दिन कवि-गोष्ठियाँ होतीं। किसी ने नई रचना लिखी तो कहानी-गोष्ठी आयोजित हो जाती। तब आकाशवाणी साहित्योन्मुख साधन था। इंदौर का तेवर उन दिनों कुछ-कुछ अपने इलाहाबाद जैसा था। कमिश्नर, कलेक्टर, विधायक, मंत्री किसी को तब तक शहर गिनती में नहीं लेता था, जब तक साहित्य या कला के प्रति उसके अनुराग का संकेत न मिल जाए। कविता के क्षेत्र में नित नये प्रयोग करने वालों में तब चंद्रकांत देवताले, सरोज कुमार, चंद्रसेन विराट, श्रीकांत जोशी, देवव्रत जोशी वहाँ सक्रिय थे। दूसरी तरफ रमेश बख्शी जैसे कहानीकार जैनेंद्र कुमार की खटिया खड़ी किये रहते थे।

घर से कुछ दूर एक छोटी-सी दुकान थी, जहाँ दो आने रोज पर किताबें मिलती थीं। मैंने बहुत-सी किताबें वहाँ से लेकर पढ़ीं। अश्क जी की 'बड़ी-बड़ी आँखें', कृशनचंदर का 'बावन पत्ते', धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' और रांगेय राघव का 'मुर्दों का टीला' इन सबसे उस दुकान के जरिये ही परिचय मिला। हमारे घर में गरिष्ठ और वरिष्ठ पुस्तकें थीं हिंदी और अंग्रेजी की। टॉलस्टॉय की 'वॉर एण्ड पीस', 'अन्ना कैरिनिना', जेम्स जॉइस का 'युलिसिस', ऑस्कर वाइल्ड नाटक, शॉ के प्रेफेसेज, स्टीफन ज्वीग का 'बिवेयर ऑफ पिटी', हार्डी का 'ज्यूड द ऑब्सक्योर' मेरी सूनी-लंबी दोपहरों के दोस्त थे। अज्ञेय का 'शेखर' और 'नदी के द्वीप', जैनेंद्र का 'त्यागपत्र' और 'विवर्त', शरत साहित्य, रवींद्रनाथ ठाकुर का 'नौका डूबी'—ये सब कृतियाँ मैंने बी.ए. करने से पहले ही पढ़ डालीं। मध्यकालीन काव्य से मुझे डर लगता था, इसलिए हिंदी की पढ़ाई कभी मेरे पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं बनी और मेरा बहुत-सा समय नष्ट होने से बच गया।

कुछ लोग जीवन से किताबों की ओर जाते हैं, वे ज्यादा समझदार, दुनियादार और खबरदार कहलाते हैं, पर मेरे पिता स्वयं किताबों की दुनिया को यथार्थ मानते रहे, इसलिए भौतिक अर्थों में समृद्धि उनसे दूर रही। वे फिर भी मगन रहते। पुरानी दिल्ली में सेंट्रल बैंक की सीढ़ियों पर ठंडे बर्फ

में लगे दही-बड़े बिकते थे। वे हम सबको वहाँ दही-बड़े खिलाते और कहते—'हम लोग पंडित नेहरू से ज्यादा खुशकिस्मत हैं।'

'क्यों?' मैं पूछती।

'पंडित नेहरू इस तरह चाँदनी चौक में दही-बड़े थोड़ी खा सकते हैं।' कहते हुए वे हँस पड़ते।

कई वर्षों तक पापा मेरा शब्दकोश, अर्थकोश और भावकोश बने रहे। जो पापा को पसंद नहीं, ममता वह नहीं करेगी। जो पापा नहीं खाते, ममता वह नहीं खाएगी। जिसे पापा नहीं मानते, उसे ममता नहीं मानेगी। इस दौर को मैंने अपनी कहानी 'आपकी छोटी लड़की' में उठाया है।

एक बार यह सामंजस्य गड़बड़ा गया। जितने पापा के दोस्त थे, उनसे चौगुनी मेरी सहेलियाँ थीं। इनमें क्लास में पढ़ने वाली लड़कियाँ तो थीं ही, कॉलोनी में रहने वाली आँटियाँ, दीदियाँ और भाभियाँ भी थीं। एक लड़की से मैंने अपनी हिंदी टीचर की आलोचना कर दी। आलोचना क्या थी, उनके शब्द उच्चारण का कार्टून खींचा था, उनके विषयगत ज्ञान को ललकारा था। उस लड़की ने अगले ही दिन हिंदी टीचर मिसेज भगवाकर को मेरी बात बता दी। मुझे खूब डाँट पड़ी। क्लास से बाहर निकाला गया और यह चर्चा आम हुई कि मुझे स्कूल से निकाला जा सकता है।

घर में पापा से मैंने अपनी तकलीफ बाँटनी चाही। उन्होंने कोई डाँट-फटकार नहीं लगाई, पर चिंतित हो गये। पुणे के दस्तूर पब्लिक स्कूल से निकाली गई छात्रा का प्रवेश अन्यत्र होना असंभव होता। तब पापा ने मुझसे कहा—'मुन्नी, आगे से याद रखो, थिंक ऑफ योर फ्रेंड ऐज ऐन ऐनिमी टुमारो (आज का तुम्हारा मित्र कल शत्रु हो सकता है)'।

यह बात गलत, सिनिकल और नेगेटिव है, यह मुझे तभी महसूस हो गया था। मैंने असहमति में गर्दन हिलाई। उनकी यह सलाह मैं आज तक नहीं मान सकी। न जाने अब तक कितनी बार धोखा खाया, नुकसान उठाए, मुसीबतें झेलीं, सिर फुड़वाया पर दोस्तों को दुश्मन समझने की आशंका पर कभी विचार नहीं किया। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं, अपने माता-पिता की खूबियों के साथ-साथ उनकी खामियों से भी वाकिफ होते जाते हैं, पर अपनी समस्त खूबियों-खामियों में पापा एक बहुआयामी व्यक्तित्व थे। उन पर केंद्रित एक रचना पर मैं आजकल काम कर रही हूँ, पर पात्र इतना विशाल है कि रचना में वह समा नहीं रहा, समेटने की कौन कहे!

यह अजीब, किंतु सच है कि जब मैं गद्य पढ़ती थी, तब कविता लिखने के लिए प्रेरित होती थी और बाद में जब आधुनिक काव्य में रस लिया तो गद्य की ओर मुड़ गई। 1961 में दिल्ली विश्वविद्यालय में एम.ए. इंग्लिश में प्रवेश लिया। शुरू के चार महीने तो एक भी लेक्चर मेरी समझ में नहीं आया। मुझे लगा, यहां का हर लड़का-लड़की मुझसे ज्यादा पढ़ाकू और योग्य है पर थोड़ा परिचय होने पर यह आभास होने लगा कि बोलचाल और व्यवहार में अंग्रेजियत अपना लेने से ही कोई अफलातून नहीं हो जाता, यह पीढ़ी 'एनकाउंटर' और 'क्वेस्ट' में छपी पुस्तक समीक्षाएँ, आइफैक्स में मंचित नाटक और गलगोटिया के काउंटर पर रखी पुस्तकों के शीर्षक याद रखकर समकालीनता का दम भरती थी, जबकि मैं तब तक अर्न्स्ट फिशर की 'नेसेसिटी ऑफ आर्ट' और डॉ. शिवकुमार मिश्र का 'मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र' हृदयंगम कर चुकी थी। कनॉट प्लेस या आसफ अली रोड पर सोवियत पुस्तक प्रदर्शनी लगती, जहाँ पुस्तकें बेहद सस्ती होतीं। एम.ए. में मुझे दस रुपये महीना जेब खर्च मिलता। कभी 'ज्ञानोदय' में छपी कविता या 'सुप्रभात' में छपी कहानी का चालीस-पचास रुपये पारिश्रमिक आ जाता तो मानो लॉटरी खुल जाती। एम.ए. एब्राम्स का 'द मिरर एंड द लैम्प', विम्जट एण्ड ब्रुक्स का 'लिटरेरी क्रिटिसिज्म' और सिमोन द बोवुआ का 'द मैडरिंस' और 'द सेकेंड सेक्स' मैंने रचनाओं के पारिश्रमिक से खरीदीं।

उन्हीं दिनों दिल्ली के एक प्रकाशन ने अकविता संकलन 'प्रारंभ' के प्रकाशन का प्रस्ताव रखा। जगदीश चतुर्वेदी ने मुझसे कविताएँ देने का आग्रह किया। 'प्रारंभ' में मेरी कविताएँ सम्मिलित की गईं। समीक्षाओं में उन्हें उल्लेख और विस्मय दोनों मिला। उन वर्षों में मेरा रुझान कविता की ओर ही था। मेरी बहुत-सी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रयोग की तर्ज पर छपे और चर्चित हुए। मैंने अंग्रेजी में मूल रूप से भी कविताएँ लिखीं, जिनके दो

संकलन प्रकाशित हुए, लेकिन हिंदी की इस दुनिया में एक गड़बड़ थी। अकविता आंदोलन की शुरुआत परंपरागत रूमानियत के प्रति विद्रोह, रूढ़िगत काव्य बिंबों से असहमति और अक्खड़ अस्वीकार जैसी ईमानदार कोशिशों से हुई, किंतु जल्द ही उसमें इतनी हिंसा, जुगुप्सा, नकली विद्रोह, शब्द-बहुलता और सरलीकरण समा गये कि कविता का पूरा परिदृश्य अराजक हो उठा। खासकर स्त्री के प्रति उन काव्य-प्रयोगों में बड़ा वस्तुवादी, भोगवादी दृष्टिकोण था और यह मेरी विरक्ति का कारण बना। रातों-रात कवयित्रियाँ पैदा हो रही थीं और काव्येतर कारणों से सरनाम हो रही थीं। एक अमानवीय वातावरण की सृष्टि होने लगी, जिसमें मुझे लगा कि कविता लिखना एक पतनोन्मुखी भीड़ का हिस्साभर बनना है, फिर दिल्ली में कहानी भी प्रयोगधर्मी होती जा रही थी। अपनी मौलिकता को सुरक्षित रखने के लिए कहानी की ओर मुड़ना किसी रचनाकार के लिए एक अनिवार्य रचनात्मक जरूरत थी।

1965 की जनवरी में रवींद्र कालिया से मिलना मेरे रचनाकर्म के लिए एक ऐसा द्वार बना, जिसने मेरे सोच-विचार और जीवन की गति बदल दी। पहली ही मुलाकात में उन्होंने मुझे अज्ञेय और निर्मल वर्मा की रचनाओं के सम्मोहन से निकाल बाहर खड़ा किया। उन्होंने मेरी आँखों पर से पापा का चश्मा उतारकर अपनी नजर से जीवन देखने-जानने के लिए उकसाया। वे न मिलते तो मैं ममता अग्रवाल ही रही आती और दृष्टि के धुँधजाल में ही समय बिता देती। रवि के दुस्साहस और दबंगई ने मुझे एक नई रचनात्मक ऊर्जा से भर दिया। यह एक ऐसा शख्स था, जिसके रचना-संसार में गद्य और भाव-संसार में पद्य का अजस्र प्रवाह था। साधनों की सीमा उसे कहीं बाधित नहीं करती थी, जितना वह दोस्ती और नौकरी में बेबाक और स्वाभिमानी था, उतना ही प्रणय में; जब भी, जहाँ भी मुझे बोलना होता, रवि कहते—'जाओ, बेधड़क बोलकर आना। बबर शेर की तरह जीना सीखो।'

1966 में इलाहाबाद आकर बस जाना हमारे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण मंजिल रही, सिर्फ यही नहीं कि इस शहर ने हमें जीविका प्रदान की, इसने हमें सामान्यता का सौंदर्यशास्त्र, स्वाभिमान का वर्चस्व और एकाग्रता का उन्मेष सिखाया, न जाने लोग इलाहाबाद कैसे छोड़कर चले जाते हैं? यह शहर नहीं, एक शऊर है। यहां शोध, बोध और अर्थ है—यहाँ निजता का सम्मान है, रचनाधर्मिता की सार्थकता है। इस शहर के बड़े-से-बड़े रचनाकार और छोटे-से-छोटे रचना-प्रेमी में ये सब विशेषताएँ अगर मुझे लगातार विस्मित, प्रभावित और प्रेरित करती हैं तो इसमें विचित्र कुछ भी नहीं है। आरंभ के वर्षों में अश्कजी और उनके परिवार ने हमें यहाँ बसने में जैसा स्नेहासिक्त संबल दिया, उसने हमारे आगामी जीवन और रचना-क्षेत्र की हदें तय कर दीं। मेरा यह विस्मय अभी तक बना हुआ है कि जिन शीर्ष रचनाकारों को पुस्तकों के पन्नों में पढ़ा, वे यहाँ कितनी सहजता से न सिर्फ मिले, वरन् पथ के साथी बनते गये। फिराक, पंतजी, महादेवी, अश्कजी, इलाचंद्र जोशी, अमरकांत, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, शांति मेहरोत्रा, गोपेश जी...स्मृति-शृंखला बहुत लंबी है। इसी शहर में परिवार में दो शिशु आये, यहीं नौकरी मिली। यहीं किस्तों पर ही सही, घर और घर का कुछ साज-सामान आया, यहीं रहकर दो दर्जन किताबें लिखी गईं।

इतना सब पढ़ने के बाद यह कतई न सोचा जाए कि लेखन की दुनिया में मैं कोई तीरंदाज हूँ। आज भी हर रचना को लेकर मन में सौ-सौ संशय रहते हैं। कभी किसी रचना की कॉपी रखती नहीं, जो भेजने के बाद पढ़कर देख लूँ कि गुड़-गोबर क्या बना। पाठकों की उदारता, सहिष्णुता और स्नेह ने ही मेरा लेखन अब तक बचाये रखा है वरना हम कहाँ के दाना थे।

मैं और मेरी कहानियाँ

पौ फटने की बेला में कलियों का चटखककर खिलना किसने देखा है। यह चमत्कार होशियार से होशियार माली भी नहीं देख पाता। इसी तरह हमारा बड़ा होना होता है। लड़कियों में दिल, दिमाग और देह की दुनिया में बड़ी जल्द और झटके-से परिवर्तन आते हैं। कहने को सब स्वाभाविक होता है, लेकिन लगता सब आकस्मिक है।

बंधी हुई लीक के मुताबिक लड़की के जीवन में

कथामाला
2

मेरी कहानियाँ

ममता कालिया

सोलहवाँ साल बड़ा नाजुक होता है। अज्ञात से ज्ञात और अज्ञेय से ज्ञेय का उसका सफर यहीं से आरम्भ होता है। वह नहीं जानती कब उसे फ्रॉक पहनते-पहनते सलवार-कमीज की जरूरत महसूस होने लगती है, कूद-कूदकर चलने की बजाय धीमे-धीमे छोटे पग उठाने को प्रकृति मजबूर कर देती है। हम लड़कों से कम नहीं, यह हेकड़ी हर महीने चोट खा जाती है।

आधुनिक समय में इससे भी अहम पायदान है पच्चीसवाँ साल। पढ़ाई, प्रतियोगी परीक्षाएँ, नौकरी, आवास और आत्मनिर्भरता के रास्ते चलते हुए आज लड़की आसानी से उम्र में पच्चीस का आँकड़ा छूने लगती है। इतने सफर के बाद शादी उसके सामने ऐच्छिक विकल्प के अर्थ में आ सकती है, एकमात्र संकल्प के रूप में नहीं। खुद की कमाई आजादी का रंग जान लेने के बाद पारम्परिक विवाह के बखेड़े में वह पड़ना नहीं चाहती, इसलिए बड़े शहरों में नौकरीपेशा लड़कियों की विवाह आयु खिसकती जा रही है, वरन् यह कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा कि रोजगार में लगी लड़कियाँ अब विवाह को स्थगित करना सीख रही हैं।

यह भी सच है कि समय कभी ऊर्ध्वगामी गति से आगे बढ़ता है तो कभी चक्राकार। एक ही समय में समस्त समाज आधुनिक नहीं हो जाता। जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा नये जमाने में भी पुरानी सोच और विचार रखता है। परम्पराबद्ध परिवारों के लिए आत्मनिर्भर अविवाहित लड़कियां चुनौती और चिंता का कारण बनती हैं।

साल-दर-साल मेरी अविवाहित सहेलियों की संख्या बढ़ती जा रही है। उनके जीवन और व्यक्तित्व के कई रंग उदास कर जाते हैं तो कर्म आह्लादित। मैंने पाया मेरी मेज पर उनके सुख-दुख के दस्तावेज भी बढ़ते जा रहे हैं।

समय के साथ-साथ हमारे अंदर न जाने कितनी

कहानियाँ भरती जाती हैं। स्मृति के इस छोटे से चिप में अनेक घटनाएँ, दुर्घटनाएँ, स्वप्न, दुःस्वप्न, अनुराग-विराग और आशंकाएँ ठसाठस समाई हैं। कई बार मैं सोचती हूँ कि होती मैं हुसैन-मकबूल फिदा तो अपनी बेचैनियों को इतने ऊँचे बुर्ज पर लटका देती। ऐसी तड़फड़ तबीयत से कोई क्या बताये कि कौन-सी कहानी कब लिखी, क्या लिखी, कहाँ लिखी? कई बार सुबह के अखबार के साथ कोई कहानी मेरे पास चली आई कतरन की तरह, कभी-कभी किसी जुमले के साथ रिबन की तरह खुलती गई। कहानी कभी दुखती उँगली की तरह रातभर चस-चस करती रहती तो कभी हालात बनकर हिला गई आपबीती।

जितना यह सच है, उतना ही यह भी कि केवल भाव-बोध के सहारे नहीं टिकी रहती कहानी, जब तक उसमें बृहत्तर समय-समाज का सरोकार और दृष्टिबोध न हो। मेरी कहानियों के पीछे वे समस्त विसंगतियाँ हैं, जिनकी मूकदर्शक बनकर बैठना मुझे गवारा न हुआ। समय के सवालों से जूझने की चुनौती और उत्कंठा तथा जीवन के प्रति नित-नूतन विस्मय ने ही इन कहानियों को लिखना सम्भव किया है।

'थिएटर रोड के कौवे' कहानी खिड़की के रास्ते फड़फड़ाती हुई अंदर आ गई। इस घटना को दो साल हो गये, लेकिन आज भी कौवा देखती हूँ तो दहशत से काँप जाती हूँ। कोलकाता में थिएटर रोड पर इतने कौवे हैं कि यहाँ कौवों पर महागाथा (एपिक) लिखी जा सकती है।

एक बार हम इलाहाबाद से बंबई जा रहे थे। हमारे सहयात्री दंपति ने अपने घर में हुई चोरी का किस्सा कुछ ऐसे चमत्कार से सुनाया कि वह याद रह गया। खास बात यह कि उन्हें इसका कोई अहसास नहीं था कि दो रचनाकार उनकी बातें सुन रहे हैं। इस घटना पर रवींद्र ने पहले कहानी लिखी। मुझे लगा बात अभी खत्म नहीं हुई। कहानी इससे आगे जानी चाहिए। मैंने अपनी तरह से लिखी 'चोरी'। रवि की कहानी 'रूप की रानी चोरों का राजा' और 'चोरी' एक ही प्रकरण के एकदम अलग संस्करण हैं। कहानी 'खुशकिस्मत' पूरी तरह अपने पर ही घटित हुई वारदात है। इस लिहाज से 'सेमिनार', 'आपकी छोटी लड़की', 'उनका जाना', 'बाथरूम', 'बोलने वाली औरत', 'ऐसा ही था वह', 'लैला-मजनूँ' सभी की चोट और कचोट खुद पर झेली गई है। कभी-कभी लगता है जिसे हम जिजीविषा कहते हैं, कहीं वह बेहयाई का ही दूसरा नाम तो नहीं; तीर खाते जाएंगे और मुस्कुराते जाएंगे।

मेरे लिखने का कोई निश्चित समय नहीं होता। बिना किसी नक्शे के कहानी शुरू कर देती हूँ, मानो शून्य गगन में एक तारा टाँक रही हूँ। पहले तो फुर्सत ही नहीं मिलती। अगर मिल भी गई तो बजाय लिखने के, टीवी के ऊटपटांग उत्पात देखने में समय नष्ट करती हूँ। न लिखा जाय तो रसोई में घुस जाती हूँ, रसोई में कोई काम बिगड़ जाए तो पैर पटकती हुई वापस कमरे में आ जाती हूँ। कई बार दो-चार पन्ने उड़कर गायब भी हो जाते हैं। लोग जीवन में अराजक होते हैं, मैं लेखन में अराजक हूँ। लिखने के बाद छप जाने पर रचना पढ़कर अफसोस और असंतोष होता है—अरे इसमें वह सब तो लिखा ही नहीं गया, जो सोचा था। इस सबके बावजूद अब तक मैंने जो भी, जैसा भी लिखा, उस सबको मैं स्वीकार करती हूँ। मैं अपनी हर कहानी पर यह शपथ-पत्र लगा सकती हूँ कि यह मैंने बड़ी शिद्दत से अपनी नसों पर महसूस करते हुए लिखी। हर कहानी को अपने कलेजे की गर्मी से सेंका और पकाया। कितना ही यथार्थ खुद झेला, कितना औरों को झेलते हुए देखकर विकल हुई। जिस वक्त जो लिखा, उसमें अपनी पूरी ऊर्जा और ऊष्मा लगा दी। अपने समय से संवाद और विवाद करती इन रचनाओं के साथ मैं निष्कवच खड़ी हूँ आपके सामने।

बेघर

मेरी सभी रचनाओं की तरह 'बेघर' भी एक झौंक में लिखी रचना होती, अगर इसे इलाहाबाद का संस्पर्श न मिला होता। 1969 से 1970 का समय बंबई के एसएनडीटी हॉस्टल में बीता। वे एक साथ आजादी और अनमनेपन के दिन थे। शाम होते ही सारी लड़कियाँ कहीं-न-कहीं चली जातीं, कोई डेट पर, कोई डांस क्लास में, तो कोई शॉपिंग पर, रह जाती बस मैं और कुछ चिरकुमारी प्राध्यापिकाएँ। उनके साथ सिनेमा देखने में भी सिर्फ तीन घंटे बीतते। छठी

मंजिल की खिड़की से मरीन लाइंस पर झाँकने पर अजब-गजब दृश्य दिखाई देते, कभी क्रूर तो कभी करुण, कभी गरम तो कभी गलीज। कहानियाँ लिखने की भी एक इन्तेहा थी।

बंबई के जीवन के अमिट दृश्य मेरी जेब में थे। बार-बार दिल्ली और बंबई जाना हुआ था। इन शहरों के सघन प्रभाव मेरे मन पर पड़े थे। एकदम अलग किस्म के लोगों से मेल-जोल रहा था। खुद मैं तब तक न दिल्ली वाली बन पाई थी न बंबइया, लेकिन दोनों शहरों की हवाएँ मुझे छूती थीं, दोनों जगह की खासियतें महसूस होती थीं। एक दिन ट्रंक कॉल पर रवि से पूछा—'इतने सारे वक्त का क्या किया जाए?' रवि ने कहा—'नॉवल लिखो।' इस तरह 'बेघर' का सूत्रपात हुआ। उस समय इसका न नाम था, न गाम। नाम तो उपन्यास छपने के समय रवि ने सुझाया। प्रथम प्रकाशक जीत मल्होत्रा उपन्यास का आवरण चित्र पहले से ही शिवगोविन्द पाण्डेय से बनवा चुके थे, किंतु वे आंतरिक पृष्ठों की साज-सज्जा पर खर्च नहीं करना चाहते थे। किताब हमारी ही प्रेस इलाहाबाद प्रेस में छप रही थी। मेरे हाथ में उस वक्त लिपस्टिक थी। रवि ने कहा—'तुम कागज पर इसी से लिख दो 'बेघर'।' कई संस्करणों तक वही मेरा लिपस्टिक से लिखा 'बेघर' शीर्षक छपता रहा। जब वाणी प्रकाशन ने वर्ष 2002 में उसका पाँचवाँ संस्करण प्रकाशित किया, तब उसकी साज-सज्जा बदली।

वापस इसकी शुरुआत पर हॉस्टल चलें तो एक नजर उस वक्त के सम्पर्कों पर डालनी होगी। एसएनडीटी यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी विभाग की अध्यक्ष एक सिरफिरी पारसी महिला थी, जिसका समूचा व्यक्तित्व भयंकर नकारात्मक था। उसका दोस्त बनना भी तबालत था, दुश्मन बनने का तो खैर हौसला भी नहीं था हमारा। अपने स्वास्थ्य, सौंदर्य और स्त्रीत्व के विषय में उसे अजीबोगरीब शंकाएँ थीं। केकी का चरित्र चित्रण करने में मुझे ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ी, क्योंकि मॉडल मेरे बहुत करीब था। इसी तरह विजया केलकर और वालिया भी बंबई में थे। वे अपने उसी अंदाज में जी रहे थे। विजया कभी-कभी हॉस्टल आती और एक नजर में मेरा जीवन खारिज कर जाती—'कैसे रहती हो इतनी चक-पक में।' मैं मन में सोचती—'कहने दो इसे जो चाहे। मैं नॉवल में इसका चरित्र और भी खराब कर बदला ले लूँगी।' रहा नायक परमजीत, तो उसकी आकस्मिक मृत्यु तभी होकर चुकी थी। उस दिन इत्तेफाक से रवि बंबई आये हुए थे। हमने वह भयावह रात उस फ्लैट में जागकर बिताई थी। इस कमरे में परमजीत की पार्थिव देह पड़ी हुई थी और उस कमरे में उसकी पत्नी रमा, मुझे अलमारी से निकालकर अपने सलवार-सूट दिखा रही थी और कह रही थी—'ए सब रंग सफेद दुपट्टे के साथ खप जाएंगे न। लिपस्टिक न सही लाल, मैंने गुलाबी या कत्थई लगा लेती है।' रमा को तो जैसे ईश्वर ने ठस्स करमकल्ला बनाकर भेजा था। परमजीत ने एक बार रवि से मेरी बात ट्रंक कॉल पर कराई थी। उसका भी बिल बनाकर रमा ने मेरे पास भेज दिया।

इन सब अनुभवों से गुजरकर 'बेघर' की मूल कथा बड़ी व्यंग्यात्मक और अब्सर्ड बनती जा रही थी। उपन्यास लिखने का कोई अनुभव मेरे पास नहीं था। 31 मार्च, 1970 तक मैं मुश्किल से तीस पृष्ठ लिख पाई थी कि अचानक मुझे सेवा-समाप्ति का पत्र मिल गया। सरासर धोखेबाजी से मुझे नौकरी से अलग किया जा रहा था। मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में शोध करने के लिए एसएनडीटी से अध्ययन-अवकाश माँगा था, जिसके जवाब में मुझे यह पत्र मिला।

31 मार्च का ही मेरा रेल का आरक्षण था, पर बर्खास्तगी के कारण घर जाने का उत्साह एकदम ठंडा पड़ गया। घर तो बाद में जाना था। सीधी में एक गोष्ठी में शामिल होने का निमंत्रण था। बंबई मेल से मुझे सतना तक जाना था जहाँ रवि मिलते। एक क्षण में बंबई मेरे लिए पराई हो गई। सहेलियाँ मुझसे बात करती डर रहीं थीं। बर्खास्त कर्मचारी से बोलने की हिम्मत उनमें नहीं थी। बस दो सूरमा थीं, जो स्टेशन छोड़ने आईं, डॉ. उमा शुक्ला और श्रीलेखा बोस। मुझे याद पड़ता है रेल में भी मैंने उपन्यास के कुछ पन्ने लिखने की कोशिश की, पर मेरा मन उस वक्त इतना कटखना हो रहा था कि हर पात्र, कुपात्र बन रहा था। उस वक्त मैंने डायरी के पहले पन्ने पर शीर्षक लिखा 'कछुआ'। मन में मूल भाव यह रखा कि विवाह के बाद पुरुष कछुआ बन जाता है, स्त्री के सारे दुर्व्यवहार अपनी पीठ पर झेलकर।

जैसी मेरी आदत है, सतना स्टेशन पर रवि से मिलते ही मैंने एक साँस में सारी अन्याय-गाथा कह डाली। रवि ने सिगरेट का कश खींचते हुए कहा—'अच्छा हुआ छूट गई, छोड़ने में इससे ज्यादा तकलीफ होती तुम्हें।' इसके बाद का उपन्यास 370, रानी मंडी इलाहाबाद में लिखा गया।

उन्हीं दिनों मार्कंडेयजी के यहाँ मिन्टो रोड पर एक गोष्ठी का आयोजन हुआ। उन्हें खबर थी कि मैं उपन्यास लिखने में लगी हुई हूँ। उन्होंने 'कछुआ' शीर्षक से मेरा रचना-पाठ रखा। तब तक भी मेरे सामने स्पष्ट नहीं था कि यह कहानी कैसे विस्तार पाएगी, लेकिन गोष्ठी में उसके पृष्ठ पढ़कर मेरा मनोबल जरूर बढ़ा। अगर मुझे गलत याद नहीं तो उस दिन श्रोताओं में मार्कंडेयजी के साथ-साथ भैरव प्रसाद गुप्त, अमरकान्त, शेखर जोशी भी उपस्थित थे। ये वे नाम थे, जिनकी पुस्तकों को मैंने गहरी आसक्ति और उत्तेजना से पढ़ा था। कभी सोचा भी न था कि इनकी उपस्थिति में मैं साहित्य के इलाके में प्रवेश लूँगी। उपन्यास अंश सबको पसंद आया था। एक नये अनाड़ी लेखक के प्रति इस स्वागत-भाव से सबसे ज्यादा इसका सम्भावित प्रकाशक प्रसन्न हुआ। पुरवार नाम का यह व्यक्ति तब तक रवि का कहानी संग्रह 'नौ साल छोटी पत्नी' छाप चुका था और अब मेरे उपन्यास का उद्धार करना चाहता था। गोष्ठी से लौटते हुए उसने कहा—'चलिए, कहीं बैठकर सेलिब्रेट किया जाए आज का दिन।' हम दोनों बड़े उत्साहित थे। उसने पूरी सिविल लाइंस का चक्कर लगाने के बाद एक गुमटी के पटरों पर हमें बैठा दिया और चाय-समोसे का ऑर्डर दिया। प्रकाशकों की फटीचरी से मेरा यह पहला साक्षात्कार था। मेरी हार्दिक इच्छा थी कि मुझे इस समय चार-पाँच सौ की अग्रिम राशि मिल जाए, तो उपन्यास लिखने में मेरा मन लगे। मैं ताजी बेरोजगार थी और हर महीने की पहली को मेरा दिल डूबने लगता। मैंने पुरवार से कहा कि बंबई में तो उपन्यास पर अग्रिम रुपये फट से मिल जाते हैं। पुरवार का व्यक्तित्व ऐसा था कि उसकी हाँ और ना का अंदाज लगाना मुश्किल था। अब आलम यह था कि पुरवार एक बार हाथ जेब में डाले और एक बार निकाले। बड़ी यंत्रणा के पल थे वे। जेब के अंदर जैसे बिच्छू धरा हो। प्रकाशक तड़पकर हाथ बाहर निकाल ले। अंत में उसने बड़ा निरीह चेहरा बनाकर कहा- 'ममताजी मैं बड़ा गरीब आदमी हूँ।' चाय-समोसे के बाद पत्थर गिरजा के सामने पटरी पर बैठ वह हमें अपनी संघर्ष गाथा सुनाता रहा। बाद में पता चला कालपी में उसका चीनी-बूरे का समृद्ध व्यवसाय था।

यहाँ श्रीलाल शुक्लजी का कथन याद कर लेना सुसंगत होगा। श्रीलालजी ने एक जगह लिखा है, वे गरीब घर में पैदा हुए, उनके दोस्त सब गरीब थे। रिश्तेदार भी गरीब थे। अब अगर प्रकाशक भी गरीब मिल जाए, तो लेखक की गाड़ी कैसे चले! जीवन में दरिद्रता को प्रोत्साहन देना मुझे कभी अभीष्ट नहीं रहा। मैंने तय कर लिया कि इस दरिद्र प्रकाशक को तो पुस्तक कभी नहीं देनी है। भले ही पुस्तक लिखी न जाए, इसे जूड़ीताप से बचाना होगा।

एक दिन जब इस रचना के कुछ आगे के पृष्ठ रवि को सुना रही थी, रवि ने कहा—'तुम यह कैसी कहानी लिख रही हो, जिसमें एक भी पात्र के प्रति तुम्हारी कोई हमदर्दी नहीं है?' मैं एकदम सन्न रह गई। उस वक्त तो मैं पैर पटकती, मुँह फुलाती अंदर चली गई। बाद में अकेले में मैंने अब तक के लिखे पृष्ठ पढ़े तो मैं अवाक् रह गई। रवि ने सच कहा था। हर रूप पर विरूप हावी था। मैंने अपना चश्मा बदला।

पात्रों से दूर होने पर उनकी पुनर्रचना का काम पहले से सरल हो गया। उन पात्रों में इधर-उधर के बहुत-से रंग-ढंग आ मिले। संजीवनी का चरित्र बंबई का नहीं है। बहुत पहले जब हम पूना में रहते थे, हमारा घर मूला-मूठा नदियों की मिली-जुली धारा के समीप था। मैं तब एसएससी में पढ़ती थी और नौशेरवान दस्तूर स्कूल में प्रथम श्रेणी में बोर्ड परीक्षा उत्तीर्ण करने की ललक से भरी हुई थी। हमारे पड़ोस वाले घर में कान्ता बेन अपने छोटे भाई अरविन्द भरूचा के साथ रहती थीं। वह लम्बी, दुबली, आकर्षक महिला थी, जो हर समय कुछ गमगीन दिखाई देती। कान के पास वह अपने बालों की एक लट का घूँघर बनाकर उसमें बॉबपिन लगाती। मम्मी के साथ उसकी अच्छी पहचान हो गई थी। मेरी दीदी के रंग-ढंग देखकर वह मम्मी से कहती- 'इन्दुबेन अपनी लड़की को बोलो धीरे चले। लड़का लोग दोस्ती करेगा, आशिकी करेगा। तुम सोचो वह शादी बनाएगा,

तो कभी नहीं बनाएगा, वह लड़की लोग को ऐसे छोड़ देगा।' कहते हुए वह अपनी चाबियों का गुच्छा गिरा देती।

एक दिन कान्ता बेन ने मम्मी को विस्तार से बताया, कैसे उसका प्रेमी उसे रोज अपने घर ले जाता था। शादी का पक्का वादा कर रखा था उसने। कान्ता बेन के साथ शादी की सारी खरीदारी की और घर सामान से भर लिया। जब विवाह की तारीख तय करने का समय आया, वह एकदम बिदक गया। उसने शादी से साफ इनकार कर दिया। उसने कहा—'हम ऐसी-वैसी लड़कियों से कोई रिश्ता नहीं रखेंगे, जो शादी से पहले लड़कों के घर जाती हों।' कान्ता बेन हक्की-बक्की रह गई। उसकी अलमारी में नई खरीदी साड़ियाँ थीं, जेवर थे, यहाँ तक कि मेहंदी के पैकेट भी।

मैंने सारी बात लुके-छुपे आधी-अधूरी सुनी थी। बाकी कमी कल्पना ने पूरी कर दी। यथार्थ की संजीवनी हिन्दी भाषा की सीमित जानकारी के चलते अपनी अभिव्यक्ति में थोड़ी अटपटी थी। जब दीदी की अपने मनपसंद साथी से शादी की बात पक्की हो गई, कान्ता बेन ने उससे कहा—'प्रतिभा शादी की साड़ियाँ मेरे से ले लेना, आधे दाम पर दे दूँगी।' और भी दो-एक अजीब आदतें थीं उसकी।

हर महीने वह एक बार हमारे घर में यह जरूर बता देती कि उसकी कमर में आज बहुत दर्द है और क्यों न हो, उसे बहुत अधिक रक्त स्राव होता है। फिर वह मम्मी से कहती-'इन्दुबेन एस्प्रो देना तो।' अविवाहित-स्त्री का असुरक्षा बोध और अटपटापन कांता बेन के अंदर आकंठ भरा था।

अब यह सब संजीवनी में कहाँ आ पाया। वह पात्र अधूरा छूट गया। अच्छा हुआ। अपने संपूर्ण स्वरूप में शायद इस पात्र की संवेदनशीलता ध्वस्त हो जाती।

इसी तरह परमजीत। असली परमजीत भी एक रेफ्रिजरेशन कंपनी में काम करता था। हमारा पारिवारिक मित्र था। उसकी पत्नी अमृतसर में एक छोटी-सी सरकारी नौकरी में थी। उनके दो बेटे थे, जो शिमला में पढ़ रहे थे। उसकी पत्नी को हमेशा शक रहता कि पति उसके प्रति सच्चा नहीं है। वह अजीबोगरीब रेलों से सफर कर अचानक आधी रात के बाद घर पहुँचती और तूफान की तरह बेडरूम में दाखिल होती। परमजीत अभी उसका अटैची-बिस्तर उठाकर अंदर ही कर रहा होता कि वह सारे घर का मुआयना कर डालती। ड्रेसिंग टेबिल पर जूड़े का कोई काँटा, कंधे पर कोई लम्बा बाल, तौलिए में कोई पराई महक। परमजीत हँसते हुए कहता—'यहीं क्यों नहीं रहती तुम?' वह तुरंत कामकाजी स्त्री बन जाती—'मैं चार सौ दी लग्गी बंधी नौकरी कदी नहीं छढनी। ओत्थे रोटी मां-प्यो दे मत्थे। तुरके जांदी-आंदी हां ऑफिस।' (मैं चार सौ की लगी-बंधी नौकरी कभी नहीं छोड़ने वाली। वहाँ रोटी माँ-बाप के सिर है। ऑफिस पैदल आती-जाती हूँ।)

परमजीत उसे कभी समझा नहीं पाया कि रोटी तो बंबई में भी मुफ्त मिलती। रमा की कृपणता कपड़े के थान-सी खुलती जाती। वह कहती-'ए न रहें तो मेरी नौकरी तो चलो जी, है ही न!' परमजीत के दिवंगत हो जाने पर उस परिवार से ही हमारा नाता टूट गया। उसके न रहने से बंबई में एक साथ कई दोस्त अनाथ हुए थे। जब 'बेघर' की पाँडुलिपि तैयार हुई, सर्वप्रथम प्रकाशक पुरवार अदृश्य हो चुका था। रचना प्रकाशन ने इसके पहले और अगले संस्करण छापे।

लिखने के समय मुझे कहीं से भी नहीं लगा कि कौमार्य के मिथक पर प्रश्न-चिह्न लगाना कोई क्रांतिकारी काम है। यह तो मूलभूत सरोकार है, यह लगा था। 1970 के समय में नारीवाद का लाठी-पटक आंदोलन आग नहीं पकड़ पाया था। यह संयोग ही था कि मैं इस कोष्ठक से बचकर भी स्त्री के पक्ष में यह कहानी कह सकी।

नरक दर नरक

मेरे लिए यह विस्मय की बात है कि मेरी कुछ पुस्तकें पिछले पैंतीस-चालीस वर्ष से जीवित हैं, अर्थात् पढ़ी जा रही हैं, उन पर शोध हो रहे हैं और कभी भी देश के किसी कोने से कोई पत्र या फोन पहुँच जाता है कि आपने 'बेघर' उपन्यास में संजीवनी को इतना ट्रेजिक पात्र क्यों बनाया या यह कि 'नरक दर नरक' क्या आपके अपने जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। पिछले दिनों कलकत्ते में एक दिन कवि एकान्त श्रीवास्तव का फोन आया कि, 'ममताजी हमने 'नरक दर नरक' पढ़ा। मेरा और मेरी पत्नी मंजुल का मानना है, आपने हमारी कहानी लिख दी है। ऐसा कैसे

हुआ?' मुझे एकान्त की बात से खुशी और आश्चर्य के साथ-साथ आश्वस्ति भी हुई। पढ़ो तो लगे जैसे झेला हुआ और झेलो तो लगे जैसे पढ़ा हुआ, इससे बढ़कर यथार्थवाद की कसौटी और क्या हो सकती है। एकान्त समझ सकते हैं कि पिछले तीस वर्षों में आजाद हिन्दुस्तान में युवा वर्ग की जीवन स्थितियाँ ज्यादा नहीं बदली हैं। हर एक के सामने है जीवित रह सकने का संघर्ष, कार्यगत की यांत्रिक स्पर्धा, तालमेल के तनाव और स्वप्नों के टूटते तारे। इन सबके बीच अपनी परस्परता बचाये रखना प्रेमियों के लिए वास्तव में चुनौती की तरह आता है।

यही रही है 'नरक दर नरक' लिखने की पृष्ठभूमि तथा प्रेरणा। जीवन की उथल-पुथल में इसका उत्स छुपा है। कल्पना और यथार्थ की लुका-छिपी एक बार चली तो इसमें औरों का जीवन संघर्ष भी शामिल होता गया। 'नरक दर नरक' 1975 में लिखा और उसी वर्ष के अंत तक यह प्रकाशित हो गया। इस उपन्यास पर सबसे पहले मुझे अपने प्रिय रचनाकार यशपाल का पत्र मिला तो मैं कई दिनों तक रोमांचित रही। इस महान उपन्यासकार ने मेरे जैसी नई लेखिका की पुस्तक न सिर्फ पढ़ी, वरन् उस पर पत्र लिखकर अपनी सराहना व्यक्त की, इस गर्व और सुख का बयान मैं शब्दों में नहीं कर सकती। यशपाल का पत्र मैंने प्रमाण-पत्र की तरह पिछले तीस वर्षों से संभालकर रखा हुआ है। जब कभी लिखने का विश्वास डगमगाने लगता है, यह पत्र ध्रुवतारे की तरह मुझे रास्ता दिखाता है। यशपाल के ही शब्दों में—'उपन्यास की भाषा संक्रमण-काल के उफनते, खलबलाते जीवन की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के अनुरूप सरल ओजस्वी लगी। विशेषकर उषा या माँ की सामाजिकता और आवरण रहित स्वाभाविकता। कथानक और उसके अनुषंग मर्मस्पर्श के साथ नये जीवन में संतुलन की चेतना को भी कुरेदते हैं।' 'नरक दर नरक' नाम की चोट चौकाकर ध्यान खींचती है, परंतु पाठक की यात्रा सहारा के नरक की वीरानगियों में दम छूट जाने से पहले ही बागे अदन की संजीवनी वायु का आभास महसूसती जान पड़ती है। 'नरक दर नरक' से घोर बचाव की आशा जगने लगती है। सफल रचना के लिए बधाई।

1965 से 1970 के बीच बंबई में तरह-तरह के लोग संपर्क में आते गये। कभी वे प्रभावित करते, कभी वे प्रताड़ित करते। रवि और मैं दिल्ली से अपनी-अपनी स्थाई नौकरियाँ छोड़कर नए सिरे से अगली नौकरियों में संघर्ष कर रहे थे। उषा और जोगेन्द्र साहनी के जैसा बस एक कमरे का फ्लैट था हमारे पास। प्रेम और संघर्ष के सिवा और कोई जमा पूँजी पास नहीं थी। हम दोनों के पास कुल मिलाकर माँ-बाप के दो सेट थे, लेकिन उनका हमारे जीवन में कोई स्थान नहीं था। हमें उनका हस्तक्षेप स्वीकार्य नहीं था, उन्हें हमारा विद्रोह। जिया हुआ यह समय 1975 में काम आया, जब मैंने 'नरक दर नरक' लिखना शुरू किया।

उपन्यास का शीर्षक मैं कभी नहीं सोच पाती। 'नरक दर नरक' शीर्षक भी रवीन्द्र कालिया ने रखा। उन दिनों इलाहाबाद में कथाकार दूधनाथसिंह अपना उपन्यास 'चौतीसवाँ नरक' लिख रहे थे, जिसके पूरे होने के आसार नजर नहीं आते थे। कभी सुनने में आता राधाकृष्ण प्रकाशन से उनके उपन्यास के दस अध्याय छप गये हैं, पाँच अध्याय अभी लिखे जाने हैं। कभी शोर मचता एक भी अध्याय छपा नहीं है, केवल अनुबंध हुआ है। लेखकों की मित्रमंडली में रवि ने मुझसे कहा—'ममता तुम अपने उपन्यास का नाम 'नरक दर नरक' रख दो। देखते हैं कौन नरक से पहले निकलता है, तुम या दूधनाथ?' इस तरह उपन्यास का नामकरण हुआ। बीच के वर्षों में एक बार प्रकाशक की पसंद पर इस उपन्यास का नाम बदलकर 'साथी' कर दिया गया। 'साथी' शीर्षक से इसका दूसरा संस्करण छपा, लेकिन तब तक पाठकों, छात्रों और शोधार्थियों के बीच 'नरक दर नरक' शीर्षक जड़ पकड़ चुका था। मैं स्वयं शीर्षक बदले जाने के पक्ष में नहीं थी, इसलिए वापस यही शीर्षक दिया गया।

'नरक दर नरक' के बारे में पीछे मुड़कर देखते हुए कुछ और प्रकाश स्तम्भ याद आ रहे हैं। प्रबुद्ध पाठक के लिए इनका सीमित अर्थ होगा, लेकिन ये बताकर मैं जैसे अपने दीए में कुछ और तेल डाल रही हूँ। अलबेले कवि और मशहूर मनमौजी कथाकार बाबा नागार्जुन उन दिनों इलाहाबाद में थे, जब यह उपन्यास छपकर आया। बाबा ने उपन्यास पढ़कर कहा—'अरे तुमने तो अपना इलाहाबाद खींच डाला।'

आलोचक गोपालराय ने 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में इस पर लिखा—'ममता कालिया के एक अन्य उपन्यास 'नरक दर नरक' (1975) में उस मौजूदा समाज-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें मध्यवर्गीय शिक्षित युवकों को अपनी सारी प्रतिभा, ईमानदारी, मेहनत और प्रथम श्रेणी की डिग्रियों के बावजूद रोजगार के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। लेखिका ने बंबई के शैक्षणिक वातावरण में व्याप्त शिक्षकों और अधिकारियों की गुटबंदी, भ्रष्टाचार, अध्यापकों के प्रति अधिकारियों की साजिश, व्यवस्था के प्रति छात्रों के असंतोष, अध्यापकों की घुटनभरी ज़िंदगी आदि का भी प्रामाणिक चित्रण किया है।'

उन दिनों मासिक पत्रिका 'माया' भी साहित्यिक रुझान रखती थी। 'माया' में डॉ. सत्य प्रकाश ने इस उपन्यास की बहुत अच्छी समीक्षा की थी। अभी पिछले दिनों युवा आलोचक कृष्णमोहन ने 'पहल' में मेरे सभी उपन्यासों का विस्तार से मूल्याँकन कर एक लम्बा लेख लिखा। 'नरक दर नरक' के विषय में उन्होंने लिखा- 'नरक दर नरक में उषा और जगन की प्रेम कहानी लिफ्ट में चुम्बन के साथ शुरू होती है। जगन के दुस्साहस पर उषा स्तब्ध भी है और स्पंदित भी। कुछ संवादों के आदान-प्रदान के बाद जगन उससे कहता है-'ऐसे मौकों पर लड़कियाँ अपनी पवित्रता के बारे में एक विज्ञप्ति सुनाती हैं। आप अपने बारे में कुछ कहें।' उषा जवाब देती है—'प्रेम और पवित्रता दो अलग-अलग चीजें हैं, एक-दूसरे की विरोधी, फिर यह तो शायद अभी प्रेम भी नहीं...।' यह वार्तालाप लेखिका की रचना यात्रा में पवित्रतावाद के निषेध के साथ आगे बढ़े हुए कदम की सूचना देता है, लेकिन आगे चलकर उसका सामना समाज में व्याप्त पितृसत्ता के अधिक सूक्ष्म और सर्वग्रासी मूल्यों से होता है, हमारी औपनिवेशिक आधुनिकता से जिनका तालमेल अधिक सहज है, बनिस्पत टकराव के। इटली के वेनिस विश्वविद्यालय की प्रोफेसर मरिओला आफरिदे ने 'नरक दर नरक' की समीक्षा 'हिन्दी' नाम की अंग्रेजी पत्रिका में लिखी थी, जो उन दिनों महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा से निकलती थी। इसके अलावा स्व. भारतभूषण अग्रवाल ने, जो मेरे चाचाजी तो थे ही, अपने आपमें अप्रतिम कवि, नाटककार और कथाकार थे। 1975 के अंत में यूरोप के दौरे से लौटने पर 'नरक दर नरक' का एक अध्याय पढ़ने पर मुझे पत्र लिखा कि, 'अभी-अभी तुम्हारा उपन्यास अंश पढ़ा। अगर समस्त उपन्यास इसी तरह लिखा गया है, तो बहुत जल्द लोग मुझे तुम्हारे चाचा के रूप में ही जानेंगे।' इस स्नेहभरी चिट्ठी का मेरे जीवन में विशेष स्थान रहा, क्योंकि भारतजी ने अब तक कभी मेरी किसी रचना को पसंद नहीं किया था। उनके लिए, जैसे मेरा लिखना गिनती में ही नहीं था। बहुत सारे विद्वानों, सुधी पाठकों, मित्रों, साथी रचनाकारों और शोध छात्रों ने इस उपन्यास को अपनी ऊष्मा दी, बल्कि शोधार्थियों की एक आम शिकायत रही कि यह उपन्यास आसानी से उपलब्ध नहीं होता। मेरा खयाल है लम्बे समय से यह उपन्यास अप्राप्य पुस्तकों की श्रेणी में रहा है, क्योंकि प्रकाशक छोड़, स्वयं लेखिका के पास भी इसकी कोई प्रति मौजूद नहीं थी। मेरी कई पुस्तकें ऐसी हैं, जिनकी एक भी प्रति मेरे पास उपलब्ध नहीं है। कभी ऐसा मेरी लापरवाही से हुआ और कभी अंतिम प्रति भी किसी पुस्तक-प्रेमी को सप्रेम भेंट कर दी गई, यह सोचकर कि शाम को जाऊँगी और प्रकाशक से एक प्रति ले आऊँगी।

जब सत्यव्रतजी ने 'नरक दर नरक' पुनर्प्रकाशित करने का मन बनाया तो सबसे पहली मुश्किल थी, इसकी एक प्रति कहीं से प्राप्त करना। सब दोस्तों के द्वार खटखटाए। सबके यहाँ किताबों के अम्बार में यह सुई की तरह गुम रही। गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय की छात्रा अमितबाला, पटियाला की छात्रा कोमल राजदेव और अन्य कुछ शोधार्थियों ने 'नरक दर नरक' उपन्यास पर कई प्रश्नावलियाँ मुझे भेजीं। मैं क्या उत्तर देती? उपन्यास की प्रति मेरे पास थी ही नहीं और मुझे पात्रों के नाम तक भूल गये थे। अंततः उस विश्वविद्यालय की हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. मधु संधू ने मुझे संकट से उबारा। उन्होंने विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से 'नरक दर नरक' की प्रति निकलवाकर इसकी छायाप्रति मुझे भिजवाई। अब यह उपन्यास पुनर्प्रकाशन की दहलीज पर है और इसके लिए मैं डॉ. मधु संधू, सत्यव्रतजी और अपने प्रिय पाठकों की कृतज्ञ हूँ।

और लिखना बाक़ी है

विभूति नारायण राय

हम भाषा में तो लोकतंत्र की बात खूब करते हैं, पर कितने लोग अपने जीवन में लोकतंत्र जीते हैं, यह कहना बहुत मुश्किल है। प्रयागराज बनने के दशकों पूर्व 1980 में शहर इलाहाबाद में एक ऐसे ही परिवार से मेरी मुलाकात हुई जो लोकतंत्र जीता था। यह पुराने शहर को रानीमंडी में एक पुरानी इमारत में, जिसके निचले हिस्से में प्रेस और ऊपरी हिस्से में रिहाइश थी, रहने वाला कालिया परिवार था, जिसमें लेखक दंपति रवींद्र और ममता कालिया रहते थे। मैंने जिस शहर में अपने छात्र जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा बिताया था, वहीं अपनी तैनाती पर पहुँच गया था। 70, 80 और 90 के दशकों का इलाहाबाद अपनी रचनात्मक ऊर्जा के चलते हिंदी साहित्य की राजधानी की तरह था। ख़ास तौर से कथा साहित्य के सारे बड़े नाम या तो वहाँ रहते थे या सालभर चलने वाले कार्यक्रमों के दौरान वहाँ आते-जाते थे। इन्हीं दिनों मेरी इस दंपति से मुलाक़ात हुई और फिर जीवन भर के लिए एक सम्बन्ध बन गया जो आज तक बना हुआ है। सन् 2016 में रवींद्र कालिया की मृत्यु के कारण एक झटका सा लगा पर ममता जी से पूर्ववत रिश्ते बने रहे।

कालिया परिवार इलाहाबाद की बौद्धिक गतिविधियों और बहुत से स्कैंडलों का केंद्र हुआ करता था। ये स्कैंडल उनसे जुड़े नहीं होते थे, पर उनके प्रचार-प्रसार का केंद्र ज़रूर रानी मंडी का इलाहाबाद प्रेस होता था। आप कभी भी वहाँ जाएं कोई न कोई लेखक, कलाकार वहाँ बैठा मिलता। रोज़ रात एक महफ़िल जमी मिलती जहाँ दो अनिवार्य उपस्थितियाँ होतीं, एक तो रवींद्र कालिया के छत फाड़ू ठहाके और दूसरी ममता कालिया का बिना शिकायत मुस्कराता आतिथ्य और यही दोनों उस घर के लोकतंत्र थे। इलाहाबाद में रहने वाला या बाहर से शहर में आने वाला नये से नया लेखक पूरे अधिकार से उनके रानीमंडी और बाद में गोविंदपुरी वाले घर में आ धमकता। वहाँ शराब पीकर धमाल करने का उसे जन्मसिद्ध अधिकार था और ममता जी तो थीं ही बिना शिकवा-शिकायत स्वागत-सत्कार करने के लिए।

1980 की गर्मियों का एक महीना मुझे ख़ास तौर से कालिया दंपति के संदर्भ में याद आता है। मैं इलाहाबाद शहर में पुलिस कप्तान था और मेरा दफ्तर इनके घर वाली रानीमंडी की गली के शुरुआत में ही था। शहर में दंगे हो गये थे और मुझे रात-दिन दफ्तर में ही रहना होता था। कई-कई दिन हो जाते थे नहाए-धोए या ढंग की नींद लिए। ऐसे में कालिया दंपति का घर एक बड़ी शरणस्थली की तरह बन गया था। रोज कई-कई किस्तों में उनके यहाँ जा धमकता। उनके पास एलपी रेकॉर्ड्स का अद्भुत संग्रह था। वहीं सुनते-सुनते मैं मेहंदी हसन का ऐसा प्रशंसक बना कि आज भी नशे की तरह उसका जादू तारी रहता है। जिस दिन कर्फ्यू नहीं होता कालिया दंपति के घर शहर के तमाम लेखक जुटते—मार्कंडेय, दूधनाथ, अमरकान्त, सत्य प्रकाश मिश्र और कभी-कभी तो उपेन्द्रनाथ अश्क और भैरव प्रसाद गुप्त जैसे बुजुर्ग भी। मैं भी पहुँच जाता। इन बड़े लेखकों के मध्य। मैंने कर्फ्यू के दौरान हासिल होने वाले अपने अनुभव साझे किये थे जो बाद में चलकर मेरे उपन्यास 'शहर में कर्फ्यू' का अंश बने। एक साथ इतने बड़े लेखकों का संग-साथ और उनके बीच अपने अनुभव साझा करना, मेरे जैसे नये लेखक के लिए एक अद्भुत अनुभव हुआ करता था। उन्हीं दिनों फ़ैज़ इलाहाबाद आये और शहर के हिंदी-उर्दू के लेखकों ने एक अद्भुत शाम मेरे घर में उनके साथ बिताई थी और इस शाम को दिलचस्प बनाया कालिया दंपति की जीवंत उपस्थिति ने।

रवींद्र कालिया बड़े बहिर्मुखी व्यक्तित्व के मालिक थे, खिलंदड़े और छत फोड़ूँ ठहाकों वाले। उनके सामने ममता

कालिया का व्यक्तित्व दबा तो नहीं, पर कुछ पीछे छूट गया सा लगता था। महफ़िलों में पति की असावधानी में की गई टिप्पणियों को वे अक्सर सँभालती सी दिखतीं। उन दिनों का इलाहाबाद था भी मस्त और अफ़वाहों में रस लेने वाला शहर। कई अड्डे थे जहाँ ये अफ़वाहें जन्म लेतीं। रवींद्र कालिया अपनी हाज़िरजवाबी या लतीफे गढ़ने की रचनात्मक क्षमता के चलते बहुतों की कुढ़ और ईर्ष्या के शिकार भी होते। दूधनाथ सिंह ने अपने एक इंटरव्यू में चिढ़ कर उन्हें शहर के सैनिटरी इन्सपेक्टर जैसा कोई खिताब दे दिया था। पर जो बात मुझे सबसे अच्छी लगती वह थी ममता कालिया की इन विवादों से दूर रहकर पति के खिलवाड़ से उत्पन्न कटुता को कम करते रहने की बिना थके कोशिश करने का धैर्य। उदार और दोस्तबाज़ पति के चलते घर में मेहमानों का जमावड़ा रहता और धैर्य की मूरत गृहिणी उन सब के खाने-पीने का इंतज़ाम करती रहती।

मेरी तैनाती उत्तर प्रदेश के अलग-अलग शहरों में होती रहती, पर इलाहाबाद एक धुरी की तरह था। हर चार-छः महीनों में एक चक्कर वहाँ लगता ही रहता और शायद ही किसी यात्रा में ऐसा होता कि एक शाम कालिया दंपति के घर न गुजरी हो। कई शहरों में वे लोग भी मेरे घर पर रुके। इसी तरह सुल्तानपुर के एक प्रवास के दौरान ममता जी ने मेरे नवजात पुत्र का नाम शाश्वत रखा। रवींद्र कालिया के अंतिम वर्षों में वे हिन्दी विश्वविद्यालय की कार्य परिषद् के सदस्य बन गये और दोनों पति-पत्नी अकसर वहाँ आते और हमारी शामें साथ गुजरती। रवींद्र कैंसर की खतरनाक स्टेज से गुज़र रहे थे और उन दिनों ममता जी ने जिस तरह के धैर्य का परिचय दिया वह मेरे और पद्मा के बीच चर्चा का विषय बना रहता। यह जानते हुए भी कि अंत बहुत करीब है दोनों पति-पत्नी बहादुरी से उसका इंतज़ार करते रहे। उन दिनों घर से अस्पताल तक हमें उन्हें बीमारी, तीमारदारी और आसन्न बिलगाव की संभावना से जूझते देखते।

इसे भी ममता कालिया की आंतरिक दृढ़ता का ही प्रतीक माना जाएगा कि दशकों के साथी से बिछुड़ने के बाद उन्होंने जल्द ही खुद को संभाल लिया और उम्र तथा स्वास्थ्य दोनों को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। उन्होंने वह नहीं किया जिसकी इस स्थिति में एक सामान्य महिला से उम्मीद की जा सकती थी, यानी वे अपने किसी लड़के के साथ रहने नहीं गईं और वह किया जो वे सबसे अच्छा कर सकती थीं। उन्होंने लिखना शुरू किया और इधर के सालों में खूब लिखा। लगा किसी प्यासे को लंबे अरसे बाद मीठे पानी का सोता मिल गया हो। घर-गृहस्थी, हारी-बीमारी, दुनियादारी सबसे मुक्त होकर वे सिर्फ लिख रही हैं और खूब लिख रही हैं। मैं यही कामना कर सकता हूँ कि वे इसी तरह जमकर लिखती रहें। अच्छा तो वे लिखेंगी ही।

मान-गुमान से परे एक पारदर्शी व्यक्तित्व

अनिता गोपेश

60-70 के दशक में जब हमारा परिचय हिन्दी के कथा संसार से हो रहा था, तब ममता कालिया कथा संसार का एक जाना-पहचाना नाम हो चुका था। हिन्दी की चमकदार विभूतियों से समृद्ध इलाहाबाद के उस परिवेश में उनके नाम की चर्चा थी। प्रो. रघुवंश तथा अज्ञेय के सम्पादन में प्रकाशित होने वाली महत्वपूर्ण पत्रिका 'क ख ग' में अपनी कविताओं से ममता कालिया ने अपनी ज़ोरदार उपस्थिति तभी दर्ज करा दी थी। आज अपने 50 वर्ष से अधिक सुदीर्घ लेखन के बाद हिन्दी कथा संसार में अपनी मजबूत पहचान बना चुकी ममता कालिया को किसी परिचय की जरूरत नहीं रह गई है।

उन्हें 'महिला कथाकारों' की बिरादरी तक सीमित करना उनके साथ अन्याय होगा और इससे स्वयं उन्हें भी गुरेज रहा है। कहने की जरूरत नहीं कि उन्होंने न सिर्फ अपने समय और समाज में हो रहे परिवर्तन को रेखांकित करती कहानियाँ लिखीं बल्कि कविताएँ, नाटक, लेख, उपन्यास लिखे। कई पुस्तकों और पत्रिकाओं का सम्पादन किया, महत्वपूर्ण साक्षात्कारों से साहित्य-समाज को समृद्ध किया।

उनकी लेखनी का अवदान हिन्दी साहित्य की सदा की थाती हैं। उन पर ढेरो शोध हुए, हो रहे हैं—आगे भी होते रहेंगे। उनके कथाकार व्यक्तित्व पर बहुत लिखा-कहा गया है। उस पर लिखने से इतर मैं आज उनके व्यक्तित्व की ऊँचाइयों की बात करना चाहूँगी। उनके अन्दर साँस लेते एक बेहतरीन इंसान की बात करने जा रही हूँ, इसलिए कि उनके बारे में जब सोचना शुरू करती हूँ तो समझ नहीं आता उनके व्यक्तित्व का कौन-सा रूप किस पर भारी हैं—उनका कथाकार या उनके अन्दर रचा-बसा एक सहज, स्नेही संवेदनशील इंसान! वैसे माना यही जाता रहा है कि एक संवेदनशील बेहतरीन इंसान ही अच्छा लेखन कर सकता है, पर हिन्दी जगत ही नहीं, विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्य में इसके अपवाद भी हुए हैं। वे लेखक अच्छे थे, पर इंसान निम्नतर थे। ममता जी के निकट, जो लोग उन्हें करीब से जानते हैं वे सब सहमत होंगे कि ममता जी, एक बहुत ही सहज, सरल, स्नेही, पारदर्शी व्यक्तित्व की स्वामिनी हैं और उनका साहित्य भी आभिजात्य वर्ग से दूर सामान्य संघर्षशील लोगों की ही गाथाएँ है। स्त्री उस समाज का एक हिस्सा होकर ही उनकी कहानियों में उपस्थित हैं, अलग से उसकी कोई झंडाबरदारी नहीं है, ममता जी के कथा लोक में।

ममता जी से मेरा परिचय, इलाहाबाद में उनके आकर बस जाने के तुरन्त बाद हुआ। उनके कहानीकार रूप से मेरे पिता पहले से ही भली-भांति परिचित हो चुके थे। 1970 में जब पिता को गंभीर हृदयाघात के बाद, सीढ़ियाँ चढ़ने की मनाही हो गई तब रानी मंडी के अपने सीढ़ी वाले घर से शहर के रईस बच्चा जी टंडन के विश्रामालय में हम सपरिवार आकर रह रहे थे। विश्वविद्यालय के किसी आवास के आवंटित होने की प्रतीक्षा तक। ये विश्रामालय इक्तिाक से कालिया दंपति के रानी मंडी के प्रेस वाले घर के बिलकुल पास था, बल्कि उनके घर के रास्ते में था। कालिया दंपति को जब पता चला कि साहित्यकार गोपेश यहीं रह रहे हैं तो एक शाम पति-पत्नी बड़े आदर भाव से उनसे भेंट करने आये और फिर बराबर आते ही रहे। मेरे पिता प्रगतिशील विचारों के होने के नाते पढ़ी-लिखी स्त्रियों पर विशेष स्नेह भाव रखते थे। पहली ही बार में बहुत तारीफ के साथ उन्होंने मुझे ममता जी से मिलवाया था। कालिया जी की तारीफ में उन्होंने क्या कुछ कहा; मुझे याद नहीं, पर याद है कालिया जी का सुदर्शन व्यक्तित्व, लगभग फिल्म अभिनेता के सुनील दत्त जैसा; और ममता जी भी उनसे कुछ कम आकर्षक नहीं। ममता जी की वह छवि दुबली-पतली, साँवली सलोनी, सुमधुर हास वाली स्त्री की मेरे दिमाग में आज भी अंकित है।

पिता के पास अकसर शाम को उनका आना होता।

दुनिया जहान की बातें होतीं, साहित्य चर्चाएँ होतीं। कभी नरम, तो कभी गरम। मुझे बातें कितनी समझ आतीं कितनी नहीं, पर मैं दोनों के आकर्षक बौद्धिक व्यक्तित्व के प्रभाव में बराबर उपस्थित जरूर रहती।

1972 में हम चौक रानी मंडी से कटरा बैंक रोड आ गये। तब उनसे मिलना भी कम हो गया। पर 1974 में पिता के असमय आकस्मिक निधन के बाद पता नहीं कैसे और क्यों उनसे मुलाकात का सिलसिला चल निकला। पिता की मृत्यु के बाद जब हमारे पैरों तले जमीन खिसक गई, हमारी दुनिया एकदम अस्त-व्यस्त हो गई।

तब अचानक ममता जी का स्नेह संरक्षण मेरे खाते में आ गिरा। मेरी ही तरह अपने पिता को पूजा-भाव से देखने वाली ममता जी को संभवतः मेरी पीड़ा और अभाव गहरे से समझ में आई होगी कि उनसे मिलना अकसर होने लगा। मुझे भी संरक्षण और संघर्ष में लड़ने के सम्बल के लिए उनकी तरफ देखना जरूरी लगने लगा होगा कि मैं कटरा से चौक तक साइकिल से उनके घर प्रायः आने लगी।

कालिया दंपति का घर सारे साहित्यकर्मियों, खासकर युवाओं के स्वागत के लिए जैसे हमेशा खुला रहता, मेरे लिए भी खुला रहता। मैं उस घर में कभी भी, किसी भी समय आ सकती थी, घर की किसी भी चीज का इस्तेमाल कर सकती थी। फोन से लेकर ग्रामोफोन तक सब कुछ। मुझे वह घर अपने घर जैसा लगता जहाँ चाय-नाश्ता-खाना साथ ही साहित्यिक विभूतियों से मेल-मिलाप, साहित्यिक सरगर्मियों का हिस्सा हो जाना सहज ही संभव होता। पता नहीं उम्र का फासला समाप्त कर हम और ममता जी कब मित्र हो गये। ममता जी जब किसी से मेरा परिचय करातीं, ये कह कर 'मेरी मित्र अनिता' और 'साहित्यकार गोपेश की बेटी' बाद में जोड़ती तो मुझे अपने आप पर बड़ा गुमान होता, साथ ही सार्थक सम्बल भी मिलता कुछ होने का।

कालिया जी ने ममता जी के बारे में कहीं लिखा है कि—'हम दोनों एक-दूसरे के विलोम हैं।' पर मैं इसे नहीं मानती- वे दोनों एक-दूसरे के सम्पूरक थे। पर हाँ बहुत सारी बातों में दोनों के स्वभाव मेल नहीं खाते थे। ममता जी के शौक बड़े सामान्य स्त्री-सुलभ भी होते थे जिनमें कालिया जी को बिलकुल रुचि न होती, जैसे पिक्चर देखना, चाट खाना, विन्डो शॉपिंग करना, गंगा किनारे बैठकर गप्पें मारना। इन सबके लिए वे सहज ही मेरा नाम सुझाकर मुक्त हो जाते। पिक्चर साथ देखने को बहुत मनुहार करके कालिया जी को साथ ले जाने की ममता जी की कोशिश, फिर पिक्चर हॉल में घड़ी-घड़ी पिक्चर छोड़ बाहर चल देने की। कालिया जी का ममता जी से अनुरोध और अंततः यह कहकर उठ जाना कि 'मैं कॉफी हाउस में बैठा हूँ। तुम और अनिता पिक्चर देखकर वहीं आ जाना। ऐसे कितने ही प्रसंगों की यादें हैं मेरे पास।'

शोध के दौरान फैलोशिप मिलने के बाद मेरी साइकिल की जगह स्कूटर ने ले ली। ऐसे में ममता जी के साथ घूमने में आसानी हो गई। ममता जी बेहिचक मेरे स्कूटर की पिछली सीट पर बैठ मेरे साथ कहीं भी चली जातीं, उन्हें स्टेटस कॉम्प्लेक्स कभी नहीं रहा, जब वे कहें कि मैं रवि के अलावा किसी और के साथ स्कूटर पर बैठी हूँ तो बस तुम हो।' तो मेरा स्टेटस जरूर बढ़ जाता। ममता जी जिस कॉलेज की प्रिंसिपल थी, वह विश्वविद्यालय और संगम क्षेत्र के बीचा-बीच पड़ता। मैं विश्वविद्यालय से उनके कॉलेज पहुँचती, कॉलेज का समय समाप्ति पर होता तब। स्कूटर की पिछली सीट पर ममता जी और चलाते हुए मैं पहुँचते बांध वाले लेटे हनुमान मन्दिर से सीधे किले घाट को जाने वाली सड़क पर।

मन्दिर के पास चाय वाले को चाय का निर्देश दे हम यमुना किनारे किले के अन्तिम छोर पर बनी गोलाकार सीढ़ियों पर बैठते। बायीं तरफ दिखता संगम और दाहिनी तरफ नैनी के पुल के पीछे अस्त होता रक्ताभ सूरज! ऐसी खूबसूरत शाम! हम उसे निहारते चाय-समोसे के साथ। किसी कहानी पर चर्चा कर रहे होते, या घर-परिवार के आम दुखड़े शेयर करते। व्यक्तिगत बातों के लिए भी ममता जी बहुत पारदर्शी हैं, कभी कोई बात छिपाती नहीं।

कालिया जी को चुन्नी लाल के छोले पसन्द हैं तो ममता जी को तूफानी की चाट। ममता जी को खुले में प्रकृति के साथ रहना पसन्द है, तो कालिया जी को अपने कमरे में अपना गिलास और बेगम अख्तर की बजती हुई

ग़ज़ल।

बहुत बार यूँ भी हुआ कि ममता जी जब मेंहदौरी वाले अपने घर में आ गईं तो हम पैदल ही गंगा के रसूलाबाद घाट तक चले जाते। पानी से बाहर रखी किसी सूखी नाव पर हम आमने-सामने होते। ममता जी को अपनी नई कहानी सुनाते; या ममता जी की कोई कहानी सुनते हुए। फाफामऊ के पुल पर जब सूरज अस्त हो जाता, तो हम वापस ममता जी के घर आकर कालिया जी सहित चाय पीते। बतकही खूब होती। ममता जी के घर आने वाले युवा साथी हमेशा ही होते वहाँ। देर होने लगती, घर जाने को उठती, तो कालिया जी, मनुहार से रोकते, ''अरे बैठो! वहाँ घर पर कौन तुम्हारा इन्तजार कर रहा है।'' मैं जवाब में कह उठती, ''रवि दा, मेरा बेचारा घर भी चाहता है, मैं कुछ घड़ी उसको भी मयस्सर हो लूँ। मेरा घर मेरा इन्तज़ार करता है।'' ऐसी किसी बात पर ममता जी लाड़ से भर कह उठतीं-''ओय ले। कितनी प्यारी बात कह दी अनिता ने रवि। अब उसे जाने दो।''

बात कहने का सलीका हो या तारीफ़ से किसी का मनोबल ऊँचा उठाना, ममता जी इसमें सिद्धहस्त हैं। चौक में कोतवाली और घन्टाघर के बीच म्यूनिसिपल मार्केट के परली तरफ एक हाजी जी की मशहूर दुकान थी-(आज भी होगी), जहाँ महिलाओं के मतलब की सारी चीज़ें मिलती थीं-सुई से लेकर लिपस्टिक तक।

ममता जी की प्रिय दुकान के हाजी जी ममता जी की बड़ी इज्जत करते थे। एक दिन अपनी एक बंगाली सहेली के साथ ममता जी से वहाँ भेट हो गई। मेरी सहेली गाढ़ी साँवली पर बड़े आकर्षक चेहरे वाली थी। परिचय कराया, ममता जी ने तपाक से कहा— ''तुम क्या सुन्दर लड़कियाँ देखकर दोस्ती करती हो अनिता।'' मेरी दोस्त, ममता जी की उस टिप्पणी से लजाई तो जरूर, पर वह ममता जी की हमेशा की मुरीद हो गई। ऐसी न जाने कितनी ही यादें हैं ममता जी के साथ, इलाहाबाद में बिताए समय की। इलाहाबाद से उनके जाने के बाद मेरे लिए यह शहर खासा सूना हो गया। पर कालिया जी के जाने के बाद ममता जी के जीवन में जो शून्य आएगा उसकी कल्पना नहीं कर पाती थी। पर वाह रे ममता जी!! उस शून्य को उन्होंने अपनी बहुमूल्य यादों से ऐसा सजाया कि लगता ही नहीं कि कालिया जी उनके साथ नही। 'रविकथा' हो कि वर्तमान आवास में ड्राइंगरूम में लगी कालिया जी की बोलती हुई तस्वीर। कालिया जी की उपस्थिति ममता जी के इर्द-गिर्द महसूस होती रहती है। प्रेम-प्रसंग में या जीवन-संघर्ष में या कि संवेदनशीलता के मामले में, ममता जी बहुविध नितान्त प्रेरक व्यक्तित्व हैं। उनसे मतभेद रखकर भी नाराज नहीं हुआ जा सकता।

अपने लेखन में भी ममता जी सबसे अलग सहज-सरल हैं। वे जीवन के प्रसंग का कोई महाआख्यान नहीं रचतीं। वरन् मामूली मध्यवर्गीय जीवन के बड़े जाने-पहचाने छोटे-छोटे प्रसंगों को लेकर उसे किसी बड़ी संवेदना तक ले जाती हैं। उनकी कहानियों के विकास के क्रम में समय और समाज में हो रहे परिवर्तनों को बखूबी देखा जा सकता है। 'बेघर' से लेकर 'दौड़' तक अपने समय और समाज की नब्ज कभी छूटी नहीं उनसे। उनके सरोकार अपने समय और समाज और उसके रिश्तों पर पड़ने वाले प्रभाव से गहरे से जुड़े रहे हैं। इसी के चलते वे अन्य लेखिकाओं से अलग दिखती हैं और यही कारण है कि आम पाठक उनसे आसानी से जुड़ता चला जाता है।

अन्य लेखिकाओं की तरह 'स्त्री विमर्श' का ना कोई नारा बुलन्द किया, ना ही उसकी झंडाबरदारी की ममता कालिया ने, पर स्त्री के अस्तित्व की जद्दोजहद को, उसके पूरे सामाजिक परिदृश्य में अपनी कहानियों में ऐसी सहजता से रखा, और पितृसत्ता के दबाव में उसके अस्तित्व की स्थिति और कहाँ-कहाँ, कैसे महीन तरीके से दबती है उसे ऐसे उधेड़ कर रखा कि हर किसी को लगा 'अरे, ये तो मेरा ही सच है।' कस्बाई, शहरी और महानगरीय, सभी समाजों की बड़ी गहरी पकड़ है ममता जी के पास। 'बीसवीं सदी की कहानियों' के संग्रह में ममता जी की लिखी भूमिका जैसे स्त्री लेखन के विकास-क्रम का एक प्रामाणिक दस्तावेज है, जो दर्शाता है कि ममता जी की शोधपरक दृष्टि भी कितनी गहरी है।

'कल्चर-वल्चर' का कथ्य सौंदर्य

श्यामसुंदर पांडेय

ममता कालिया वर्तमान हिंदी साहित्य की एक ऐसी लेखिका हैं, जो समाज के विविध पक्षों को अपनी लेखनी के माध्यम से बड़े ही जीवंत रूप में अभिव्यक्त करने का सराहनीय कार्य कर रही हैं। अपने नये उपन्यास 'कल्चर वल्चर' में उन्होंने साहित्य, कला और संस्कृति की सेवा के नाम पर चल रहे गोरखधंधों का बड़ा ही यथार्थ चित्रण किया है। सच्चाई भी यही है कि आजादी के बाद पूँजीपतियों का एक बड़ा वर्ग था जिसके लिए समाज सेवा एक पवित्र कार्य था। उनकी समाज सेवा में जरूरतमंदों की मदद से लेकर, शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा साहित्य, कला और संस्कृति को संरक्षण जैसे कार्य भी शामिल थे। उनके लिए ये कार्य किसी पुण्य के समान थे, जो समाजोत्थान की दृष्टि से किये जा रहे थे। यद्यपि प्रसिद्धि की लालसा वहाँ भी थी, लेकिन वह केवल समाजसेवक के रूप में ही। समय के साथ वह पीढ़ी धीरे-धीरे समाप्त होती गई और उन्हीं के साथ उनकी भावनाएँ भी मिटती गईं। उनकी नई पीढ़ी के लिए समाज सेवा के मायने कुछ अलग थे। उनके पास न तो इन सबके लिए समय था और न ही उन्हें किसी पुण्य की लालसा थी। हाँ, समाजसेवी कहलाने का प्रचलन इस पीढ़ी में अवश्य बढ़ गया था। समाज सेवा भी अब रोजगार का रूप धारण करती जा रही थी और इक्कीसवीं सदी आते-आते तो यह एक फैशन बन गई। एक तरफ नई समाजसेवी संस्थाओं की बाढ़-सी आ गई, तो दूसरी तरफ पुरानी संस्थाओं ने भी नये रूप में स्वयं को प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। इन संस्थाओं में कहीं एक-दूसरे से अधिक रुतबा प्राप्त कर लेने की होड़ मची, तो कहीं मिल-बाँट कर खा-पचा लेने की सहमति भी दिखाई देने लगी। पूँजीपति के लिए समाज सेवा टैक्स बचा लेने का सबसे कारगर क्षेत्र सिद्ध होने लगा। इन संस्थाओं के विविध पदों के लिए जोड़-तोड़ होने लगी और पूँजीपतियों ने अनेक पदों की सर्जना करके उस पर अपने सगे-संबंधियों को या अपने मातहतों को बैठा दिया और उनका रिमोट अपने हाथ में रखने लगे। इनके पद संस्था की हैसियत के हिसाब से समाज में अपना महत्त्व रखने लगे। इसी की आड़ में कहीं साहित्य, संस्कृति और कला के संवर्धन के नाम पर बड़े-बड़े पुरस्कार घोषित होने लगे, तो कहीं उन पुरस्कारों की चाहत में चाटुकारिता भी अपने नये रूप में अवतरित होने लगी। पुरस्कार प्राप्ति के लिए अब प्रतिभा से अधिक आवश्यक किसी पूँजीपति का या किसी संस्था के किसी पदाधिकारी का कृपापात्र बनना आवश्यक होने लगा। इतना ही नहीं, किसी साहित्यकार या किसी कलाकार की कला की ऊँचाई भी उसके द्वारा प्राप्त पुरस्कार से मापी जाने लगी। जो इनसे समझौता नहीं कर सका, वह कहीं किसी किनारे गुमनाम-सा पड़ा हुआ अपनी अंतिम साँसें गिनने को अभिशप्त होने लगा। ममता जी के शब्दों में कहें तो 'कला, साहित्य व संस्कृति आज सरोकार न रहकर कारोबार बनते जा रहे हैं और इसके प्रबंधक, कारोबारी इनके हाथों में संस्कृति विकृति बन रही है और साहित्य-वाहित्य कलाकार का शोषण, कला-जगत पर आधिपत्य इनके लिए नये किस्म की क्रीड़ा है। इस खेल के ये बड़े खिलाड़ी हैं।' साहित्य, संस्कृति और कला के संवर्धन के नाम पर वर्तमान में इस प्रकार के जो आडंबर रचे जा रहे हैं और इनकी सेवा के नाम पर जो लूट-खसोट मची हुई है, उसी यथार्थ को ममता जी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

इस उपन्यास के केंद्र में जो साहित्य संस्कृति भवन है उसका निर्माण हिंदी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से राजस्थान से कलकत्ता आये अजुध्या और मनोरथ ने मिलकर किया। जमीन भी एक अन्य हिंदी प्रेमी सेठ धनियाराम ने मुफ्त में उपलब्ध करा दी। इन सबके लिए अँग्रेज़ और अँग्रेज़ी दोनों देश के दुश्मन थे। इसलिये वे लोग अंग्रेज़ी का एक शब्द भी सुनना नहीं चाहते। उनका मानना था कि जिस हिंदी के सहारे महात्मा गाँधी ने देश के हृदय पर राज्य किया उसका सम्मान होना ही चाहिए। उनकी अगली पीढ़ी के श्री

बाबूलाल महेश्वरी भी जब अकूत संपत्ति कमा चुके, तो अपने कार्यों में समाज सेवा को वरीयता देने लगे। बुढ़ापा नज़दीक आते-आते उन्हें पैसे से अधिक जरूरी नाम कमाना लगने लगा। यही कारण था कि वे अब उनचास संस्थाओं के संरक्षक के रूप में काम कर रहे थे। जब वे साहित्य संस्कृति भवन के अध्यक्ष बने तो इस भवन के मंत्रीपद पर रूप और सौंदर्य की मलिका सुषमा अग्रवाल कार्यरत थीं। उपन्यास की कथा नायिका सुषमा दिखने में जितनी सुंदर थीं, बात करने में उतनी ही चतुर। उनकी चतुराई के समक्ष प्रबंधन समिति के किसी भी सदस्य की कुछ नहीं चलती थी। साहित्य संस्कृति भवन का होना इन दोनों के लिए जरूरी था। लेकिन, जरूरी होने के दृष्टिकोण में छत्तीस के संबंध थे। बाबूलाल जी को लगता कि संस्कृति भवन न रहा तो नगर में भारतीय भाषाओं और साहित्य की रक्षा नहीं हो सकेगी, इसलिये इसके निर्देशक को अधिक-से-अधिक साहित्यिक ग्रंथ संपादित करने चाहिएँ, व्याख्यानमालाएँ आयोजित कर उनके संकलन निकालने चाहिए और संस्कृति भवन के पुरस्कारों का महत्त्व बढ़ जाना चाहिए। वहीं सुषमा को लगता कि—'साहित्य संस्कृति भवन न रहा तो मेरा क्या होगा।' उनका विचार था कि साहित्य संस्कृति भवन बिग बाजार की तरह 24×7 खुला रहे, इसकी स्टेज कभी सूनी न रहे, इसका सभागार अतिथियों से भरा रहे, इसका नाम दिगंत में गूँजता रहे, क्योंकि उनके लिए यह भवन साहित्य सेवा के नाम पर स्वार्थ साधना की आधारभूमि था। छोटे-बड़े साहित्यकारों के सम्मान से लेकर उनके गमनागमन पर कार्यक्रमों का आयोजन करना, साहित्यकारों की मृत्यु पर श्रद्धांजलियों का आयोजन करना और अन्य चर्चा-गोष्ठियों के माध्यम से साहित्य सेवा के आडंबरों से घिरे रहना सुषमा अग्रवाल की फितरत में था। कई बार तो वे एक ही फूल-माला से कई श्रद्धांजलियाँ संपन्न करवा देतीं। इन सबका उद्देश्य कला और साहित्य का प्रचार-प्रसार कम' बल्कि 'स्व' का ही प्रचार-प्रसार अधिक था। वहाँ आयोजित होने वाले कार्यक्रमों की सफलता किसी गहन चर्चा और मौलिक विचारों से अधिक भीड़ जुट जाने में मानी जाती थी। यहाँ आने वाले लोगों के लिए किसी अच्छे वक्ता से अधिक जरूरी उनके आवभगत को समझा जाता था। उनकी साहित्य सेवा का यदि सार कहा जाए, तो साहित्य एवं कला की सेवा के नाम पर बाह्य आडंबरों की जितनी प्रबल माया फैलाई जा सकती थी वह सब करने में सुषमा पूर्णतः दक्ष थीं। यहाँ सुषमा अग्रवाल के रूप में ममता जी ने एक ऐसे पात्र की सर्जना की है जो वर्तमान के आडंबरी साहित्य सेवियों का सफल प्रतिनिधित्व करती है।

सुषमा को अच्छी तरह पता है कि कुछ प्राप्त करने के लिए कुछ नया और कुछ अतिरिक्त करने का दिखावा तो करना ही पड़ेगा, इसलिये साहित्य संस्कृति भवन में सुधार के नाम पर हर दिन कुछ-न-कुछ होता रहता है। कभी रंग-रोगन, कभी किसी मूर्ति का स्थान परिवर्तन, तो कभी किसी दफ्तर के फर्नीचरों में बदलाव और कभी नये कार्यक्रमों की शुरुआत। इसी क्रम में अजुध्या जी की मृत्यु के बाद उनके जन्म दिवस को भवन के स्थापना दिवस के रूप में एक बड़ा आयोजन किया जाने लगा और इस अवसर पर पच्चीस हजार के चार युवा पुरस्कार और पचास हजार के चार वरिष्ठ पुरस्कार घोषित किये जाने लगे। यह भवन अपने पुरस्कारों का स्तर अन्य संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले सभी पुरस्कारों से उच्च रखना चाहता था। सुषमा अग्रवाल के लिए तो यह पुरस्कार किसी नोबेल की बराबरी का होना चाहिए। बीच-बीच में लेखिका ने सुषमा जैसी अनेक उन समाजसेवी महिलाओं की भी चर्चा की है जिन पर समाज सेवा का जुनून सवार है। ये महिलाएँ घर पर तो एक चम्मच नहीं उठातीं, लेकिन समाज सेवा के नाम पर गरीबों की बस्ती में 'तसला उठाने में भी संकोच नहीं करतीं।' इनका समय किसी एन.जी.ओ. के रूप में कभी विधवाश्रम, कभी अनाथालय और कभी किसी झोपड़-पट्टी में बीतता है। इनके पतियों का दर्द यही है कि जब से ये समाज सेवा में लगी हैं तब से 'इनमें एक अलग तरह की हेकड़ी पैदा हो गई है और अपने आगे के किसी को गिनती ही नहीं।' एक ऐसे ही अमीर और रेस में लाखों गवाँकर करोड़ों कमाने वाले सौरभ अग्रवाल की पत्नी सुषमा भी हैं जिनके पति का दर्द है कि 'हर समय किसी-न-किसी का झंडा उठाये रहो, किसी की व्यथा में आहें भरते भरो, किसी की मुश्किल में हमदर्द

बनो, जबकि एक पौरुषमय पति और दो सुंदर बच्चियाँ तुम्हारी बाट जोह रही हैं।' लेकिन, सुषमा को अपने रूप और वाणी दोनों पर गर्व था और वह दोनों का मूल्य वसूलने से चूकने वाली नहीं थी। जहाँ जिसका जादू चल जाए वह चला देतीं। उनके रूप-सौंदर्य को चित्रित करते हुए लेखिका कहती हैं कि 'उसके कदम रखते ही समस्त निगाहें उसकी तरफ उठ जातीं। भगवान की ऐसी रहमत थी उस पर कि दूध, घी, मक्खन किसी की परत उसकी देह पर न चढ़ती। और तो और, नज़रों का बाँकपन भी अभी षोडश था।' उनकी बातों का जादू ऐसा था कि–'वह भवन की साम्राज्ञी थीं, जिन्होंने प्रतिवाद शब्द जाना ही न था। उनके मुँह से जो निकल जाता, भवन कर्मी को वही करना पड़ता। वे तर्क नहीं करतीं, वे अनुकंपा करतीं या आदेश।' यहाँ तक कि प्रबंधन समिति की बैठकें भी अधिकांशतः बेनतीजा ही निकलतीं जो सुषमा के हित में होतीं। कई बार तो ऐसे अवसर भी आते हैं। जब सुषमा जान-बूझकर कोई मीटिंग ऐसे दिन रखतीं कि लोगों को आने में कठिनाई हो और लोग कह देते कि 'आप जो फैसला ले लेंगी वह मुझे मान्य है।' ऐसी ही सहमति से उन्होंने संस्थापकों की प्रतिमाएँ नीचे के चबूतरे से हटाकर पुस्तकालय के प्रवेश द्वार पर पुनस्थापित करने का निर्णय ले लिया था।

कलाकारों और साहित्यकारों के रूप में लेखिका ने अनेक आधारभूमियों से अनेक पात्रों की सर्जना करके इस क्षेत्र की अलग-अलग समस्याओं को उद्धृत किया है। साहित्यकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जो पुरस्कारों के लालच में पूँजीपतियों अथवा सुषमा जैसी अधिकारियों के चक्कर लगाता है और अपनी रचनाएँ उन्हें देकर धन्य समझता है। तो दूसरा वर्ग, अपनी प्रसिद्धि का पूरा-पूरा धन वसूल लेना चाहता है, किसी कार्यक्रम में शामिल होने का निमंत्रण मिलने पर वह तमाम सुविधाओं की दरियाफ्त करता है। वाचस्पति जी और कादम्बरी शर्मा जैसे गुरु और चेलिन की सर्जना कर लेखिका ने वर्तमान की स्थितियों पर व्यंग्य की एक मीठी छुरी चलाई है। सामान्यतः आज देखा यही जाता है कि प्रतिष्ठित साहित्यकार किसी-न-किसी सुदर्शना चेलिन को अपने साथ लिए चलता है। ख्याति प्राप्ति की लालसा में डूबी चेलिन भी गुरु जी के प्रति पूर्ण समर्पित। फकीराचंद और शैवाल सिंह जैसे पात्र मानसिक विप्लव के शिकार हैं और सांसारिक समस्याओं से दूर भाग जाते हैं। हमराज एक ऐसा कलाकार है जो अपनी कला महत्ता एवं उसका मूल्य स्वयं ही नहीं पहचान सका। छोटे-बड़े लोगों का कहा मानकर वह उनकी मर्जी के अनुसार चित्र तो बना देता है, लेकिन साहित्य कला भवन में अपने चित्र पर सुषमा का नाम लिखने की बात सुनकर बिदक जाता है और लाखों की संभावना छोड़कर सभी चित्रों पर क्रॉस लगाकर रात को ही भाग जाता है। वह एक ऐसा कलाकार है जो भूखों मर सकता है, लेकिन पैसे के लालच में अपनी कला किसी दूसरे के नाम पर नहीं बेच सकता। इस घटना के माध्यम से लेखिका एक बार पुनः इस बात की तरफ संकेत करती हैं कि आज साहित्यकार और कलाकार या तो किसी पूँजीपति के हाथ

की कठपुतली बन गये हैं या नवीन अथवा हमराज की तरह अभिशप्त जीवन जी रहे हैं। जबकि, सुषमा जैसे पूँजीपतियों के लिए कला और साहित्य पैसे का खेल बन चुका है। एक तरफ लोग दूसरे के लिखे साहित्य को अपने नाम से छाप रहे हैं, तो दूसरी तरफ दूसरों की कलाकृति पर अपना नाम लिखवाकर समाज के सामने स्वयं को श्रेष्ठ साहित्यकार अथवा कलाकार सिद्ध करने की जुगत में लगे हुए हैं।

शैवाल सिंह की मृत्यु पर आयोजित शोकसभा के आयोजन के माध्यम से लेखिका ने वर्तमान में मौत पर हो रही राजनीति की तरफ संकेत किया है। पार्टी के समर्पित कार्यकर्ता शैवाल सिंह कभी क्लब की तरफ नहीं गये, लेकिन उन्हीं की मृत्यु पर उनका प्रबल विरोधी और उनसे कभी सीधे मुँह बात न करने वाला उनका चचेरा भाई प्रवाल सिंह हिंदुस्तान क्लब में बड़ी श्रद्धांजलि सभा का आयोजन करता है। यहाँ नवीन के संवाद के माध्यम से लेखिका ने प्रगतिशील साहित्यकारों की दुर्गति के कारणों पर विस्तृत विचार किया है। उपन्यास के अंत में सुषमा को 'अभिनव संस्कृति' से मिलने वाले पुरस्कार, उस अवसर पर मनाई जाने वाली खुशियाँ, मंत्री पद से त्याग-पत्र का नाटक, माहेश्वरी जी के विरोध के बाद भी दिल्ली से पुरस्कार की प्राप्ति और अंत में उनकी मृत्यु पर घड़ियाली आँसू की गंगा बहाकर सबके दिल को जीत लेने वाली सुषमा अग्रवाल के माध्यम से लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि साहित्य और कला की सेवा के नाम पर किया जाने वाला ढोंग आज समाज में लगातार फैलता जा रहा है। ऐसे संस्थान आज साहित्य अथवा कला की सेवा का दिखावा मात्र बनकर रह गये हैं। जो साहित्य संस्कृति भवन कभी हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए स्थापित किया गया, जिसके संस्थापकगण अँग्रेजी के नाम मात्र से ही घृणा करते थे, जो संस्थान पूर्णतः सेवा भाव से समाज में स्थापित किये गये, वे देखते-ही-देखते अर्थोपार्जन के अड्डे बनते गये। सेवा भावना से स्थापित साहित्य संस्कृति भवन पहले भाड़े पर लोगों को व्यक्तिगत कार्यक्रमों के आयोजन के लिए दिया जाने लगा और बाद में उसी भवन में अँग्रेजी माध्यम का विद्यालय खोल दिया गया जो अधिक-से-अधिक अर्थोपार्जन का माध्यम बन गया और दिशा कोठारी जैसी हाथ की कठपुतली बनी रहने वाली प्रधानाचार्या को रख दिया गया, जिसके माध्यम से मनमानी पूर्ण कार्य किये जा सकें।

उपन्यास के बीच-बीच में लेखिका ने लालच में बहती मीडिया और क्षेत्रीय राजनीतिज्ञों की मर्जी से पनपती स्थानीय गुँडों की दादागीरी, आदि की चर्चा करके समाज के अनेक पक्षों की विडंबनाओं को स्पर्श करने का कार्य किया है। कोलकाता की पृष्ठभूमि पर आधारित इस उपन्यास में साहित्यिक संस्कृति भवन के साथ-साथ वहाँ के वातावरण और वहाँ की राजनीति एवं वहाँ के लोगों की संस्कृति और उनकी भाषा की भी अच्छी जाँच-पड़ताल की गई है। यहाँ नवीन और सुषमा-जैसे चरित्र अपने निहितार्थों के साथ पाठक के चित्त पर अंकित हो जाते हैं। लेखिका ने व्यापक संदर्भों के साथ उन मनोवृत्तियों को टटोला है जो शब्द में सिक्कों की खनक और साहित्य में सरोकारों का शोकगीत सुनना चाहती हैं। 'कल्चर-वल्चर' भूमंडलीकरण, उद्दंड पूँजी, निरंकुश सोच आदि के आशयों को भी खँगालता है। उपन्यास की कथावस्तु में निरंतरता अद्यांत बनी रहती है। सभी घटनाओं की तारतम्यता एक-दूसरे से जुड़ती चलती है। अलग-अलग पृष्ठभूमि के पात्रों को भी उपन्यास में जिस कलात्मकता के साथ जोड़कर एक वातावरण तैयार किया जाता है, उसमें कलकतिया गंध अपने आप आने लगती है। इस उपन्यास की नायिका सुषमा अग्रवाल और उनकी देखरेख में संचालित साहित्य संस्कृति भवन तो एक प्रतीक मात्र है, सच्चाई तो यही है कि देश में साहित्य एवं कला के नाम पर संचालित अधिकांश संस्थाओं की यही स्थिति है। लेखिका ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से साहित्य और कला की सेवा के नाम पर चल रही ऐसी समस्याओं को उद्धृत किया है जिस पर सामान्य रूप से लोगों का ध्यान भले न जाता हो, लेकिन इनके परिणाम दूरगामी होते हैं। ममता जी की कुशल लेखनी ने पूरे वातावरण को जीवंत बना दिया है और इसमें चित्रित साहित्य संस्कृति भवन अपने तरह की लगभग सभी समाजसेवी संस्थाओं का प्रतिनिधि बन गया है।

ऐसी शख़्सियत जिसमें है भरपूर बड़प्पन

वाज़दा ख़ान

ममता कालिया जी एक ऐसी शख्सियत हैं मेरे जीवन में कि मेरे पास इतने शब्द नहीं कि उनके लिए मेरे मन में उनके प्रति जो भावों का भंडार हैं उसे व्यक्त कर सकूँ। मेरे लिए वे केवल विख्यात लेखिका ही नहीं, बल्कि मेरी प्रेरणा स्रोत हैं, माँ जैसी और दोस्त जैसी हैं। उनके उपन्यासों, कहानियों को मैं विद्यार्थी जीवन से पढ़ती आ रही हूँ। एक तरह से लिखने-पढ़ने की तमीज को उनके लेखन को पढ़-पढ़ कर सीखा है।

मुझे याद आ रहा है जब मैं बहुत छोटी थी, तो मेरी बड़ी बहन डॉक्टर अफरोज़ बहुत किस्से-कहानियाँ पढ़ती थी। खास तौर पर महिला कथाकारों—की कहानियाँ—शिवानी, उषा प्रियम्वदा, ममता कालिया। तब मुझे बिल्कुल इल्हाम नहीं था कि एक दिन ममता कालिया जी से मेरी मुलाकात होगी और मेरे जीवन में यह एक इतना महत्वपूर्ण और अजीज नाम बनेगा।

जब मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शोध कार्य कर रही थी, उस वक्त तक मेरी छिटपुट कविताएँ पत्रिकाओं में छपने लगी थीं और साथ ही कुछ रेखांकन भी। वह मेरे संघर्ष का दौर था जब, तब मुझे वहाँ किसी ने सलाह दी कि तुम ममता कालिया जी को अपनी कविताएँ दिखाओ। उनसे बातचीत करो। इससे तुम्हें कविताओं को लिखने-पढ़ने को एक नई दृष्टि मिलेगी।

मुझे यह पता था कि कालिया जी एक कॉलेज की प्राचार्या हैं और अँग्रेजी विषय की हैं। तो मैं मन-ही-मन सोचा करती थी कि वे तो बड़ी कठोर अनुशासन व सख्त मिजाजवाली लेखिका होंगी। मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी, हालाँकि भीतर से बहुत मन करता था। इसी ऊहापोह में काफी वक्त बीत गया, लेकिन एक दिन मैंने अपने मन को पक्का किया और अपनी कविताएँ रेखांकन और पेन्टिंग्स लेकर गोकर्ण के साथ उनके घर पहुँची। अकेले जाने की मेरी हिम्मत नहीं हो रही थी। जहाँ एक नहीं, दो महान लेखकों से मेरा सामना होने वाला था। एक तो खुद ममता कालिया जी और दूसरे रवीन्द्र कालिया जी, पर जब मैं उनसे मिली तो मेरी सारी आशंकाएँ व डर निर्मूल साबित हो गये। ममता जी व रवीन्द्र कालिया जी से मिलने के बाद कोई भी ऐसा न रहा होगा, जो उनका कायल न हो गया हो। इतने सहज, इतने आत्मीय, गर्मजोशी से भरा व्यवहार, ढेर सारी बातचीत कि लगा ही नहीं कि मैं इतनी महान विभूतियों से पहली बार मिल रही हूँ। उसके बाद तो समाँ बँध गया उनसे मिलने का।

इसके बाद रवीन्द्र कालिया जी जब 'भारतीय ज्ञानपीठ' के निदेशक व 'नया ज्ञानोदय' के सम्पादक होकर दिल्ली आए, तो ममता जी से मिलने का क्रम पुनः प्रारम्भ हो गया। मेरा स्टूडियो गढ़ी कला कुटीर, ईस्ट ऑफ कैलाश (ललित कला अकादमी, नई दिल्ली) भारतीय ज्ञानपीठ के दफ्तर के नजदीक ही था।

मैं अक्सर स्टूडियो से रवीन्द्र कालिया जी के पास ज्ञानपीठ के दफ्तर जाती और वहाँ से कालिया जी के साथ लाजपत नगर उनके घर जाती, जहाँ मेरी भेंट ममता जी से होती। यह मेरे लिए दोहरे उत्साह का कारण बनता कि मेरा दो विख्यात साहित्यकारों से एक साथ मिलना होता। वह दिन मेरे लिए खास हो जाता और मेरे मन में कही-न-कहीं अंकित हो जाता।

घर पहुँचने के पश्चात रवीन्द्र कालिया जी भोजन करने के बाद थोड़ी बातचीत कर विश्राम करने चले जाते, पर ममता जी से बातें होती रहतीं। वे अपने जीवन की, नौकरी की, लेखन की तमाम स्मृतियाँ साझा करतीं, जो उनका सच्चा व गाढ़ा अनुभव हुआ करता। मैं बहुत चमत्कृत होती उनकी बातें सुनकर। वे अकसर चिन्तित हो जातीं जब मैं रात आठ बजे उनके घर से अपने घर आने के लिए बस लेती। मुझे बराबर समझाती निकलकर 'देखो सम्भलकर जाना। और घर पहुँच कर फोन कर देना कि पहुँच गई हो,

उन्हें लगता कि इतनी बड़ी दिल्ली में लड़कियाँ बिल्कुल सुरक्षित नहीं। उन्हें तसल्ली रहती कि मैं यहाँ इतनी विशालकाय दिल्ली में अकेली नहीं हूँ। उनकी यह चिन्ता कितनी जायज थी यह एक स्त्री, एक लेखिका, एक दोस्त, एक माँ की चिन्ता थी, जो मुझे दिल्ली के उन कठोर दिनों में बहुत राहत देता। आश्वस्ति देता। आज भी देता है।

ममता जी की चाहे कहानियाँ हों, चाहे कविताएँ हों, चाहे उपन्यास हों। पच्चीस साल की लड़की, काली साड़ी, मुखौटा, उसका यौवन, बेघर, दौड़, कल्चर-वल्चर हो या एक पति के नोट्स, एक लम्बी फेहरिस्त है।

हर उपन्यास या कहानी अपने आपमें इतने रोचक और सजीव लगते हैं कि पढ़ना प्रारम्भ करो तो पढ़ने वाले की दिलचस्पी आखिर तक रहती है। उनकी कथाओं के विषय या कथानक ऐसे होते हैं, उससे जुड़ो या पढ़ो तो लगता है कि कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी पात्र में हमारी भी उपस्थिति है। परिवेश में बिखरी तमाम छोटी-छोटी बातों, घटनाओं को देखने का या महसूस करने का जो उनका नजरिया है इतना बारीक है, जो सच्चे लेखक का ही हो सकता है।

चाहे पुरुष पात्र हो, चाहे स्त्री, उनकी संवेदनाओं व उनकी भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ममता जी बहुत सूक्ष्म ढंग से करती चलती हैं और पात्रों की जो अपनी मूल चारित्रिक विशिष्टता होती है वह इतने सजीव ढंग से उनमें उभरकर सामने आती है कि कई बार मेरे जैसा पाठक तो उसे पढ़कर चमत्कृत हो जाता है कि अरे फलाँ-फलाँ तो बिल्कुल ऐसा ही है।

इस कहानी के पात्र जैसा डिट्टो। उनके लेखन का जो काफिला होता है, जिस भाषा का प्रयोग होता है, वह बड़ा ही सहज, सरस, सुघड़ ढंग से रचा होता है। ममता जी का सूक्ष्मता के साथ परिवेश को चीजों या लोगों के देखने-परखने की जो प्रक्रिया है अनुभूत करने का स्तर है, न केवल लेखन में बहुत बेहतरीन है, वरन् उनका अपने जीवन में भी है। उनसे प्रेरित होकर मैंने भी कहीं लिखने की चेष्टा की, पर बात नहीं बनी। लेकिन उत्तर सुनना, उनके लेखन को पढ़ना। उनके विचार, उनकी बात इतना कुछ भर देती हैं मुझे भीतर से कि मुझे अपने चित्र, रंगों, कविताओं और जीवन के बहुत से पलों को सँवारने में सहूलियत होती है।

ममता जी की किताब 'अन्दाज-ए-बयां' उर्फ रविकथा पढ़कर लगा कि जैसे मैं एक खूबसूरत फिल्म देख रही हूँ। जिसमें रचनात्मकता, प्रेम और संघर्ष के न जाने कितने रंग हैं। मैं अपने आपको बहुत सौभाग्यशाली मानती हूँ कि मुझे रवीन्द्र कालिया जी और ममता कालिया जी का सान्निध्य मिला। ममता जी की तरह कालिया जी से भी मेरा भावनात्मक जुड़ाव था। उन्हें मैं हमेशा एक रचनात्मक कवि की छवि के रूप में देखती थी, जो अपनी लड़की को हिम्मत देता है, साहस देता है दुनिया के संघर्षों से लड़ने की, और कभी न घबराने की सीख देता है।

जिस तरह से गीता व कुरान को धार्मिक ग्रन्थ का दर्जा मिला हुआ है। उसी तरह 'रवि कथा' को प्रेम का दर्जा मिलना चाहिए। इतने सघन प्रेम, गहन अनुभूति से लिपटी पुस्तकें शायद ही लिखी जाती हों।'

ममता जी के घर जाने पर, कितनी बातें होतीं और कितना कुछ सीखती हूँ। लगातार बातें करते-करते हम कब दोस्त बन जाते हैं, मुझे पता ही नहीं चलता। साहित्य जगत की चर्चा, पेन्टिंग, रंग, कविता, घर, ड्रेस, खाना, लोग, सिनेमा और जाने क्या-क्या? कितने विषयों पर चर्चा हो जाती है। उनके पड़ोस में रहने वाली मीना जी अकसर शाम को आ जाती हैं, जिन्हें पढ़ने का बहुत शौक है। और वे खुद भी बहुत अच्छा लिखती हैं। फिर एक महफिल सी जम जाती है हमारे हंसी-ठहाके से सारी फिजा में शब्दों के रंगों का इत्र सा बिखर जाता।

कितनी-कितनी जादुई शाम हमने संग गुजारीं। कभी मुझे लगता है कि ममता जी शब्दों व अनुभूतियों में हुई हैं न कि हाड़-माँस से। अनुभवों का ऐसा बेशकीमती खजाना है उनके भीतर, जो पुस्तकों में कभी न मिले। ममता जी एक ऐसी शख्सियत हैं जिनमें भरपूर बड़प्पन है। साथ ही साहित्य की नदी की बेहद बेहतरीन तैराक, यानी विराट अनुभव व ज्ञान में रची-बसी, ऐसी हैं ममता जी। मैं उनकी वैचारिक, सौन्दर्य व सोच की कायल हूँ। कोई मुद्दा हो, कोई भी विषय हो, बिना किसी पूर्वाग्रह के अपनी राय देती हैं, सलाह देती हैं।

जब मैं अपनी किसी बात से बहुत उदास होती हूँ, परेशान होती हूँ, तो अकसर मन-ही-मन उनकी बातों को याद करती हूँ। उनके अनुभवों से प्रेरणा लेती हूँ। वे अपनी कहानियों को अपने भीतर बातों में जीती हैं। इस वय में भी लिखने के लिए उत्साह व ऊर्जा से भरी और किसी युवा की तरह फेसबुक पर सक्रिय, नये रचनाकारों का उत्साह बढ़ाती हुई। उनकी यह सक्रियता हम जैसे नये रचनाकारों को भीतर से बहुत मजबूती देती है। उनका अपने घर हर वक्त लिखते, पढ़ते रहना। साथ ही घर के बाकी काम भी करते रहना किसी के लिए भी सीख बन सकता है।

जब भी उनके घर जाओ तो लगता है जैसे उनके सम्पूर्ण घर में एक रचनाकार ऊर्जा बह रही है।

मैं रविन्द्र कालिया सर और ममता जी का बहुत वर्षो तक बराबर साथ देखती रही हूँ। एक पति-पत्नी के स्तर पर, एक दोस्त या साथी के स्तर पर और एक ही क्षेत्र लेखन में होते हुए भी आप दोनों का आपसी सहयोग व प्रेम मुझे बहुत प्रेरित करता रहा।

उनका ये परस्पर प्रेम देखकर मुझे यह लगता है कि अभी दुनिया में बहुत-सा प्रेम, सहज आत्मीयता, बहुत-सा अपनापन, बहुत सी नोंक-झोंक बची हुई है। नहीं तो अपने आसपास के परिवेश पर नजर डालो, तो प्रेम की दुनिया मुरझाई हुई ही दिखाई देती है। प्रेम एक संवेदना पुष्प होता है, गुलाब के फूल की तरह, जिसकी हर एक पँखुड़ी रुई के फाहे-सी मुलायम, कोमल व लाल रंग के विभिन्न टोन व शेड्स के जैसी होती है।

जब कोई अपनी डाँट-फटकार, प्रताड़ना से पँखुड़ी तोड़ता है, तो असमय ही संवेदना पुष्प की सारी पँखुड़ियाँ झरती चली जाती हैं। रह जाता है ठूँठ। और मैं यह लाल गुलाब ममता जी के भीतर हमेशा खिला हुआ पाती हूँ। उनके लेखन में पाती हूँ, उनकी बातों में पाती हूँ, उनकी हँसी में पाती हूँ।

उनकी सुपरहिट किताब 'अन्दाज-ए-बयां उर्फ रविकथा' एक खूबसूरत लाल गुलाब है जिस में प्रेम की कितनी रंगतें, कितने शेड्स समाहित हैं।

मन के कुछ भाव प्रिय ममता जी और रवीन्द्र जी के लिए यूँ कविता में—

रंगों का विस्तार
दोस्त ये जो नीला रंग है
आसमान भर का विस्तार नहीं है
तुम ध्यान से देखना अपने भीतर
जहाँ काले रंग का आधिपत्य है
ठीक उसी के नीचे नीला रंग सो रहा है, बैंगनी
हरा भी और शान्ति भी
जिसे हम बाहर से भीतर लाने की
कोशिश में लगे रहते हैं।
पर मित्र, बाहर के दृश्य यूँ ही अपना
नहीं बना करते
जंगल के साथ-साथ
इक घर गढ़ना होता है अपने भीतर
जहाँ थोड़ा उजाला, थोड़ा अन्धेरा
थोड़ी अपनी साँसें भी चाहिएँ।
कभी किसी हरी पत्ती के भीतर
झाँकना या
उस समुद्र में जो ठाठें मार रहा है
सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में
और डूब रहा है जिसमें मनुष्य
घास तो पहले से ही डूबी हुई है
पर उन घासों में विस्तार है उन सूक्ष्म कृतियों का
जो थोड़ा-थोड़ा उगते हैं कैनवास में
सृष्टि के साथ-साथ चाँद और सूरज के
समन्दर में डूबने के बावजूद
कल रात जे. स्वामीनाथन के चित्रों की रहस्यमय चित्रावली
आई मेरे स्वप्न में कुछ गीत गाती
कोई मन्त्र बुदबुदाती
जब आँख खुली सुबह
सचमुच कोई चिड़िया गीत गा रही थी।

नौलखा गद्य का अनूठापन

अखिलेश

मेरा लिखने का कोई निश्चित समय नहीं है। बिना सोचे-समझे कहानी शुरू कर देती हूँ, मानो शून्य आसमान में सितारा चिपका रही हूं। पहले तो एकांत ही नहीं मिलता। अगर मिल भी गया तो बजाय लिखने के टीवी चैनलों के ऊटपटाँग उत्पात में समय नष्ट करती हूँ। न लिखा जाए तो रसोई की ओर कूच कर जाती हूँ और रसोई में कोई काम बिगड़ जाए तो पाँव पटकती कमरे में आ जाती हूँ, जहाँ हरदम मेरे कागज फैले रहते हैं। कई बार दो-चार कागज़ उड़कर गायब भी हो जाते हैं। लोग जीवन में अराजक होते हैं, मैं लेखन में अराजक हूँ।

—ममता कालिया, मेरी प्रिय कहानियाँ

उपर्युक्त कथन दिलचस्प है; यह तब और दिलचस्प हो जाता है। जब हम आजकल देखते हैं कि बहुत सारे लेखक अपने लिखने को लेकर बड़े-बड़े दावे करते हुए पाए जाते हैं। वे अपने शब्दों को रहस्य, विचार, औदात्य, संजीदगी आदि से जन्मा बताते हैं और लगभग वैसी ही धजा के साथ अपनी तस्वीरों की फेसबुक पर नुमाइश करते हैं। ममता कालिया यहाँ अपनी लेखन प्रक्रिया पर चर्चा करते हुए बहुत साधारण और रोजमर्रा की गतिविधि के रूप में उसकी चर्चा कर रही हैं। कह सकते हैं कि उसका थोड़ा मजाक-सा बना रही हैं, लेकिन दरअसल वह रचनाकर्म को लेकर परंपरागत, रूढ़िगत रूप से चली आ रही उसके दैवीय, असाधारण और आध्यात्मिक होने की अवधारणा का विखंडन कर रही हैं। पूरी बात को समझने में संभवतः यह कथन मदद करे जो उपरोक्त कथन के एकदम साथ, करीब-करीब बगल में ही दर्ज है—'मैं अपनी हर कहानी में यह शपथ-पत्र लगा सकती हूं कि यह मैंने बड़ी शिद्दत से महसूस करते हुए लिखी। हर कहानी को अपने कलेजे की गरमी से सेंका और पकाया। कितना यथार्थ अपनी नसों पर झेला और कितना कुछ औरों को झेलते देखा। जिस वक्त लिखा उसमें अपनी पूरी ऊर्जा लगा दी।' पहली नजर में पाठक को एक विरोधाभास-सा लग सकता है कि कहाँ एक तरफ अपने रचनाकर्म को लेकर हल्की-फुल्की बतकही और कहाँ 'अपनी पूरी ऊर्जा लगा' देने का कथन। इसी बिंदु पर ममता कालिया की रचनात्मकता का स्वभाव समझ में आने लगता है। दरअसल वह उन कथाकारों में हैं जिनके यहाँ मनुष्यता, साधारणता, रोजमर्रापन को सबसे आला दर्जा हासिल है। इसीलिए उनका लेखन महानेताओं, देवत्व और हीरोशिप को जमीन पर उतारने के संघर्ष का प्राप्य है। जब वह कह रही हैं कि 'कितना यथार्थ अपनी नसों पर झेला और कितना कुछ औरों को झेलते हुए देखा' तो जाहिर है उनके रचनाकार की मुख्य प्रतिज्ञा सत्य को उसकी जटिलता, संश्लिष्टता और हर बारीकी के साथ उद्घाटित करने में है, लेकिन उसे प्रस्तुत करना है अत्यंत सहज, आमफहम तरीके से। वस्तुतः उनकी रचनाएँ महानेताओं के समानांतर मामूली का बखान हैं। यह उनके कथा साहित्य के बारे में जितना सच है, उतना ही उनके कथेतर गद्य के बारे में भी है।

ममता कालिया ने जो लिखा है वह परिमाण और गुणात्मकता दोनों कसौटियों पर इतना उल्लेखनीय है कि उनको न केवल अपनी पीढ़ी, बल्कि स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान हासिल हुआ। पीढ़ी से ध्यान आया कि हिंदी साहित्य में त्रयी बनाने का चलन दीखता है। लीयावाद में प्रसाद, पंत, निराला की त्रयी प्रसिद्ध है; नई कहानी की मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर की त्रयी से कौन वाकिफ नहीं है। इसी प्रकार बाद की पीढ़ी की कहानी ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह की त्रयी से मशहूर हुई, जिसमें काशीनाथ सिंह का भी जिक्र होता है, किन्तु बाद में अधिक, क्योंकि वह अलहदा ढंग के और उस भावभूमि से भिन्न लेखक थे जिसकी वजह से उस दौर की कहानी चर्चा में आई थी। बहरहाल यह दीगर चर्चा का विषय है; अभी जो त्रयी की बात हो रही थी उस प्रसंग में एक बड़ा अप्रिय तथ्य है कि उक्त हर त्रयी के दौर में एक स्त्री रचनाकार को परिसर से बाहर रहना पड़ा जो प्रतिभा

और अवदान की दृष्टि से किसी मायने में कमतर न थी। छायावाद में महादेवी वर्मा हों या नई कहानी आन्दोलन में मन्नू भंडारी हों अथवा साठ के दशक में ममता कालिया, तीनों में स्त्री होने और 'म' अक्षर से नाम शुरू होने के अलावा एक समानता यह रही कि उन्हें अपने समय में वह प्रतिनिधित्व न मिला जिसकी वे सही अर्थ में हकदार थीं। हालाँकि बाद में तीनों हमारी भाषा की पाँक्तेय रचनाकार के रूप में स्वीकार की गईं बल्कि कुछ अर्थों में अधिक स्वीकृत और समादृत। क्या पूर्वोक्त अन्याय हिंदी आलोचना और शक्ति संरचना पर पुरुष वर्चस्ववाद का प्रतिफल है?

(2)

ममता जी से पहली बार मिला तो वास्तव में मैं उनसे मिलने नहीं गया था। ऐसा उनके घर पर प्रायः होता था कि कोई ममता जी से मुलाकात के लिए जाता तो रवींद्र कालिया जी से भी मिलना हो जाता और रवीन्द्र कालिया जी से मिलता तो ममता जी से भी बातचीत होने लगती। दोनों ही प्रसिद्ध लेखक थे, वक्तृता के धनी थे और दोनों ही आने वालों पर आत्मीयता लुटाने वाले।

बहरहाल मैं तब बी.ए. का विद्यार्थी हुआ ही हुआ था और सुलतानपुर से अपने अध्यापक और 'निष्कर्ष' पत्रिका के संपादक रहे, श्री गिरीश चन्द्र श्रीवास्तव के साथ रवींद्र कालिया जी के पास आया था। प्रयोजन था पत्रिका को कालिया जी की प्रेस से छपाना। रवींद्र कालिया जी सामने थे और इस तरह मैं पहली बार किसी बड़े रचनाकार से मिल रहा था। उनकी कुछ कहानियाँ मैं उस मुलाकात के पहले पढ़ चुका था, अब उनके व्यक्तित्व का जादू अपनी गिरफ्त में ले रहा था। दूसरी बड़ी रचनाकार करीब एक घंटे बाद ऊपर से सीढ़ियाँ उतरकर आईं। यह ममता जी थीं। फर्क यह था कि कालिया जी गिरीश जी से दुआ-सलाम के बाद लगातार मुझसे बातें करते रहे, ममता जी सामान्य परिचय के बाद अनवरत गिरीश जी से बातचीत करती रहीं। यह महज शुरू की स्थिति थी। बाद में तो वह घर मेरा अपना था और मुझ पर उन दोनों का स्नेह बरसता रहा। यहाँ तक कि तब के इलाहाबाद में कोई-कोई टिप्पणी करता, कि दो के अलावा कालिया दंपति का एक तीसरा बेटा भी है, अखिलेश।

कालिया जी और ममता जी दोनों में गहरा प्यार था, यह कोई कहने की बात नहीं है, जानते ही हैं सब। कहते हैं, जब दाम्पत्य में प्यार अधिक होता है तो दोनों में समानताएँ ज्यादा हो जाती हैं। मुझे तो उनकी लिपि भी मिलती-जुलती लगती, पर मैं यहाँ उनकी भिन्नताओं की चर्चा करना चाहता हूँ। ममता जी तेज गति से लिखने वाली हैं, एक साथ एकाधिक रचनाओं पर काम कर लेने वाली रही हैं, जबकि कालिया जी दीर्घसूत्री थे और एक वक्त में एक ही रचना पर काम करना पसंद करते थे और पर्याप्त समय लगाते। वह अपनी शैली में अति लेखन को दुर्गुण मानते थे। ममता जी अधिक लिखकर और कामयाब होकर उनके कथन को चुनौती देतीं। कालिया जी लापरवाह लगते थे, मगर अपनी रॉयल्टी, पारिश्रमिक, बैंक आदि को लेकर सजग थे; ममता जी अपनी प्रस्तुति में काफी व्यवस्थित हैं, लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि अपने लिखे हुए पृष्ठों को प्रायः भूल जातीं कि कहाँ रख छोड़ा? कभी-कभी वह उसे छोड़कर नई कहानी प्रारंभ कर देतीं, तभी पुरानी के पन्ने बरामद हो जाते; उसे लिखने बैठ जातीं।

ममता जी को पारिश्रमिक-स्वरूप पत्र-पत्रिकाओं से अक्सर चेक मिलते, जिनमें से कुछ वैलिडिटी बीत जाने के बाद किताबों के बीच, सोफे की गद्दी के नीचे, किचन में किसी डिब्बे के पीछे झाँकते हुए बरामद होते। कालिया जी की यारबाशी मशहूर थी, मगर वह खाने-पीने या अन्य मसले पर इसरार नहीं करते; साथ वाला अपनी जरूरत और इच्छा के अनुसार खाए-पीए रहे जाए। वह खुद काफी कम खाते थे। एक अब रोटी से आगे नहीं, साथ में चावल बिल्कुल नहीं। अब अगर खाने वाले दो ही हुए जिसमें से आप संकोची हों तो आप अपना संकोच त्यागें या अधभूखा रह जाने के लिए तैयार रहें। संक्षेप में कहें तो उनको प्यार जताना आता था, पर उसे दिखाना नहीं आता था। मगर ममता जी ममता की मूरत। एक की भूख है तो चार खिलाए बिना खिलाएँ नहीं। ये खाओ, वो खाओ, और लो न। कालिया जी और ममता जी में एक अंतर यह भी था कि कालिया जी व्यावहारिक बनना चाहते थे, लोगों को अपने

अनुकूल बनाना चाहते और इस प्रक्रिया में अधिकतर को अपने प्रतिकूल बना लेते, जबकि ममता जी को जब जैसा लगता वैसा व्यवहार करतीं; कई बार वह इतना तुर्श बोल देतीं कि सामने वाला निश्चित रूप से उनका विरोधी हो जाए, किन्तु ऐसा घटित नहीं होता था। कालिया जी के मित्र बहुत थे मगर शत्रु उससे भी अधिक थे; ममता जी के पास मित्र ही मित्र और प्रशंसक भी। अजातशत्रु।

कालिया जी अकसर ममता जी के पाठकों के बीच लोकप्रिय होने की चर्चा करते थे और अपनी विशिष्ट शैली में कहा करते थे कि उनको लोग ममता कालिया के पति के रूप में पहचानते हैं।

इतनी शोहरत के बावजूद ममता जी की विशिष्टता हमेशा रही है कि वह अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी में घर-गृहस्थी में सुख लाने वाली और उसकी मुश्किलों से परेशान भी रहने वाली नहीं रहीं। जब उनके बच्चे अनिरुद्ध और प्रबुद्ध छोटे थे, तो मैं देखता था कि ममता जी कैसे उनको खाना खाने, दूध पीने के लिए मनाती रहती थीं। नौकरी करती थीं, लिखने के साथ वह पढ़ाकू भी कम नहीं। शॉपिंग और सिनेमा से कालिया जी को विरक्ति थी, अतः ममता जी को अधिकतर काम भी अपने हिसाब से करने होते।

जब वह कॉलेज की नौकरी से घर लौटतीं, उनके दोनों हाथ थैलों से भरे होते जिनमें घर के लिए जरूरी-गैरजरूरी सामान भरे होते थे। एक बार तो उनके हाथ ऐसे फँसे थे कि उन थैलों के बीच कोई साँप चला आया था जो ममता जी की साड़ी के बीच आराम से बैठा हुआ था और हमारी ममता जी थीं कि उन्हें इसका अहसास काफी बाद में हुआ। दूसरे अनेक मामलों में भी वह कालिया जी के उलट थीं। कालिया जी घर से निकलना ही नहीं चाहते थे, जबकि ममता जी को सपाटे का शौक था। कालिया जी भोजन के मामले में एक सब्जी, एक चपाती के कायल थे; ममता जी को सजी हुई थाली पसंद थी। वे एक सामान्य मनुष्य की तरह छोटी-छोटी चीजों में खुशियाँ पातीं और तलाशती थीं। उनकी कहानियों का संसार ऐसी ही खुशियों के ताने-बाने से तैयार होता रहा है। हालाँकि वहाँ वह इनको एक वृहद् संदर्भ प्रदान करती हैं; कई बार विमर्श का तेवर भी। इस मोड़ पर उनकी वे कहानियाँ इन छोटी-छोटी-सी खुशियों को पाने में विफल रह जाने की त्रासदी की कथाओं में बदल जाती हैं। उदाहरण के लिए उनकी 'काली साड़ी' कहानी का संदर्भ लें। कहानी में मुख्य पात्र कल्पना एक दिन बाजार में शो केस में खूबसूरत काली शिफान साड़ी देखती है। उसकी अपनी जिंदगी में तमाम आर्थिक संघर्ष हैं, अतः वह इस कीमती साड़ी के अपने लिए उपयोगी न होने के पक्ष में तमाम तर्क गढ़ती है, लेकिन साड़ी इतनी सुन्दर कि दिमाग से उतर नहीं रही। अंततः वह तय करती है कि उसका रंग ताम्बई है तो यह काली साड़ी उस पर फबेगी नहीं, किन्तु उसकी दोस्त उज्ज्वला पर खूब जँचेगी; आखिर वह बहुत गोरे रंग की जो ठहरी।

इसके बाद कल्पना उस खुशी में डूबने-उतराने लगती है कि वह एक दोस्त को महँगा तोहफा देने की दिलेरी दिखा रही है। इस छोटी-सी खुशी को हासिल करने के लिए वह अपने पति के साथ मिलकर काफी आर्थिक जोड़-तोड़ करती है तब कहीं जाकर साड़ी खरीद पाती है, किन्तु आखिरकार वह उसी के इस्तेमाल के लिए रख ली जाती है। इस मोड़ पर कहानी में ऐसी विडम्बना पैदा होती है जो कारुणिक भी है और सुखांत भी।

ममता कालिया के कथा जगत में भी साठ के दशक के अपने साथी रचनाकारों की तरह आधुनिकता के प्रति एक विशेष आकर्षण है। इस आधुनिकता के परिसर में महानगर, एकल परिवार, कामकाजी स्वतंत्र स्त्री, प्रेम और प्रेम विवाह आदि प्रमुख मूल्य हैं। त्रासदियाँ तब जन्म लेती हैं जब उक्त मूल्यों के सम्मुख विचलन या विलोम उपस्थित होता है।

'बेघर' उपन्यास में परमजीत, संजीवनी के जीवन में आता है प्रेमी के रूप में, लेकिन जब दोनों के बीच दैहिक संसर्ग होता है, तो स्त्री के कौमार्य को लेकर चली आ रही रूढ़ धारणा के तहत परमजीत को लगता है कि उसकी प्रेमिका असूर्यपश्या नहीं है; उसका कौमार्य पहले ही भंग हो चुका है। वह संजीवनी के बजाय रमा को अपना जीवनसाथी चुनता है जो कुँआरी तो है ही साथ ही कथित 'सुन्दर, सुशील और गृहकार्य में दक्ष गृहिणी' है। यह मोड़ एक तरफ संजीवनी को भावनात्मक आघात और रिक्ति पहुँचाता है, तो

दूसरी ओर परमजीत की जिन्दगी भी रमा के संग नष्ट होती रहती है। 'बेघर' में भारतीय पुरुष की यौनशुचिता सम्बन्धी सामंती सोच पर चोट है और इस पसंद पर तंज भी है कि पुरुषों को प्रेमिका आधुनिक चाहिए, किन्तु पत्नी पारंपरिक। आज दुनिया बदल रही है, मगर ध्यान दें कि 'बेघर' का रचनाकाल 1971 है, यानी आज से आधी सदी पहले। तब निश्चय ही बेघर समाज के स्त्री-पुरुष संबंध की स्वीकृत समझ का निर्मम विखंडन प्रस्तुत करने वाली कृति थी।

जो ममता जी की एक कहानी है 'लगभग प्रेमिका' जिसकी नायिका का पति दूसरे शहर में काम करने जाता है; नतीजतन नायिका अकेले लड़कियों के हॉस्टल में रह रही है। कहानी इसे वियोग के रूप में नहीं प्रस्तुत करती, बल्कि नायिका को तो 'फिलहाल यह अकेलापन और आत्मनिर्भरता अच्छी लग रही थी। बड़ी मुश्किल से ये नियामतें हासिल हुईं थीं।'

लेकिन दूसरी तरफ पति के जाने से जीवन में खालीपन भी था जिसे वह 'एक छोटे से प्रेम प्रसंग से सार्थक और आकर्षक' बनाना चाहती है मगर वह नहीं चाहती कि 'कोई शोहदे किस्म का प्रेमी पल्ले पड़ जाए' और उसका 'पारिवारिक जीवन मुसीबत में पड़ जाए।' वह 'चाहती थी एक सीधा-सादा, संक्षिप्त, सुरक्षित-सा प्रेम-प्रसंग।' आप देख सकते हैं कि यहां पर 'नई कहानी' आन्दोलन की तुलना में यथार्थ अधिक निष्कवच और सहज रूप में जगह ले रहा है। ममता कालिया की इस तरह की कहानियाँ अधिकतर महानगरों की पृष्ठभूमि में घटित होती हैं और तब ज्यादा विश्वसनीय लगती हैं।

आधुनिकता की वह जो परियोजना थी उसमें संयुक्त परिवार आधुनिक जीवन के रास्ते में बाधा की भांति था। वस्तुतः संयुक्त परिवार सामंती सामाजिक ढांचे की निर्मिति है जिसमें सबसे ज्यादा तबाही और सांसत स्त्री, विशेष रूप से बहू अथवा नई स्त्री की होती है। इस व्यथा-कथा को ममता जी की कई कहानियाँ और उनका उपन्यास 'दुक्खम सुक्खम' अभिव्यक्ति देते हैं। 'राएवाली' कहानी में कालिंदी ससुराल में 'बर्तन रगड़ते-रगड़ते अपनी हथेलियों पर राख का धुँधलापन देखती और चुप रह जाती।' बावजूद इसके जेठानी और सास के ताने सहती और पति की शारीरिक, भाषिक हिंसा भी। कहानी समापन एक त्रासदी के रूप में ममता जी ने अद्भुत निपुणता से किया है। ससुराल में शादी पड़ी है, जबकि मायके से कालिंदी की माँ की मृत्यु की सूचना आती है, किन्तु उसे मायके नहीं जाने दिया जाता है, बल्कि दुखी होने के बावजूद उसको संगीत कार्यक्रम में ढोलक बजाना पड़ता है। माँ की मृत्यु के शोक से भरी कालिंदी ने ढोलक बजाते-बजाते अंततः 'वह चक्करदार लहरिया नाच नाचा कि सारी महफ़िल दंग रह गई।' वह 'तब तक नाचती रही', 'जब तक नाचने वालों के बीचोबीच गिरकर चारों खाने चित्त न हो गई।'

'बोलने वाली औरत' में सास-ससुर, पति और बच्चे बीच शिखा के अपने व्यक्तित्व की कोई अहमियत नहीं, उसकी इच्छाएँ, उसके विचार और उसके होने के कोई मायने नहीं। यहाँ तक कि अपने ऊपर होने वाले अत्याचार तथा अन्याय की जिम्मेदार वह स्वयं ही ठहराई जाती, 'दुक्खम-सुक्खम' की इंदु की यातना भी कमोबेश शिखा और कालिंदी जैसी ही है। ये सभी स्त्रियाँ संयुक्त परिवार में अपनी आजादी और अस्मिता को विलोपित करने के लिए अभिशप्त हैं।

वैसे ऐसा भी नहीं कि इस नरक प्रतिरोध की चेतना न हो। एक लेखक की दुनिया में अन्याय का प्रतिरोध दो तरीके से होता है। एक रास्ता यह है कि वह अन्याय जो दुख पैदा कर रहा है; उस को इतना मथे कि उसके भीतर प्रतिरोध जन्म ले। यह ढंग है इस तरह के चरित्रों की रचना जिनके कार्य व्यवहार से प्रतिकार की स्थितियाँ तैयार हों। ममता जी को यह दूसरा तरीका भी मिलता है। 'बोलने वाली औरत' शिखा पिटने से सूजा चेहरा लिए सोचती है, 'उसके फेस से, गले की नली से अंतड़ियों से चिपके हुए ये बाहर आकर तीखे, नुकीले, कँटीले-जहरीले असहमति अग्रलेख बनकर छा जाएँगे घर भर पर।' 'बाथरूम' की कांता भी संयुक्त परिवार के ढाँचे में दमन और को होते देखकर चुप नहीं बैठती। इस मुद्दे की समझ एक झलक 'निर्मोही' कहानी में दिखती है। दादी से शिकायत करती है, 'ए क्या दादी, तुम्हारी कहानी में हमेशा हारती है। ऐसे थोड़ी होती

है कहानी।'

दादी ने कहा, 'अरे जे कहानी हम तुम नई ब जे तो सुनी भई सच्ची कहानी है।'

कह सकते हैं कि ममता कालिया में स्त्री चेतन सहज रूप में उपस्थित रहती है और तब से आज की तरह वह बहुत लोकप्रिय नहीं थी। उल्टा यह है कि उनके यहाँ स्त्री का दमन और उसका यथार्थ तथा कला का अतिक्रमण करके अभिव्यक्त नहीं होते हैं; अतः कह सकते हैं कि वे इल्मी नहीं, नैसर्गिक हैं।

(3)

ममता कालिया की कथाभूमि मुख्य रूप से परिवार है। ज्यादातर परिवार के बीच ही उनके किस्सों की चहल-पहल रहती है। परिवार का स्वरूप एकल, संयुक्त दोनों में से कोई भी हो सकता है। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनकी धुरी भले ही परिवार नहीं है, किन्तु दाम्पत्य की आकांक्षा है। ममता जी की तर्ज पर कहा जाए तो लगभग दाम्पत्य। वह प्रायः परिवार के स्वप्न और यथार्थ के तनाव से रचना तैयार करती हैं मगर उनके पास कुछ ऐसी कथा संरचनाएं हैं जो घटित परिवार के मध्य हुई हैं, लेकिन अपने निहितार्थ में वे ज्यादा वृहद आकाश घेरती हैं।

कहानी 'आपकी छोटी लड़की' ऐसी ही एक कहानी है जो आज से करीब तीन दशक पहले 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित होकर चर्चित और प्रशंसित हुई थी। कहानी में एक कलाप्रेमी सुसंस्कृत परिवार में दो बेटियाँ हैं, टुनिया और उसकी दीदी। इनमें संभावनाएँ तथा योग्यताएँ बड़ी बेटी में देखी जाती हैं। बड़ी बेटी सुन्दर है, गुणी है, स्कूल-घर हर जगह उसकी कला प्रतिभा का स्वीकार है; उसके आभामंडल में छोटी बेटी टुनिया की कोई कद्र नहीं। इस दायरे में बुनी गई यह कहानी आंतरिक और प्रच्छन्न सुन्दरता बखान प्रस्तुत करती है।

ममता कालिया ने छोटे-छोटे साधारण विवरणों को आपस में गूँथकर, जिसमें वह सिद्धहस्त कथाकार हैं, टुनिया के माध्यम से करुणा, विडम्बना और सच्चे सौन्दर्य का मार्मिक वृत्तांत रचा है इस कहानी में। उनका बहुचर्चित उपन्यास 'दौड़' परिवार के अन्दर रचा जाकर अपने वक्त का एक राष्ट्रीय आख्यान बन जाता है। सन् 1999 में प्रकाशित यह उपन्यास युवा वर्ग की करियर और सफलता की उस अँधाधुँध दौड़ का प्रत्याख्यान करता है जो मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों को रौंद रहा था। उस समूची प्रक्रिया में घर के भीतर रहे, संबंधों के बीच पनपने वाले तनाव, अकेलापन, विचारों का टकराव और भावनात्मक क्षरण को जिस तटस्थता, कौशल और जटिलता के साथ प्रस्तुत किया गया है वह विरल है। इस विषयवस्तु पर 'दौड़ को कम-से-कम हिन्दी का पहला उपन्यास माना जा सकता है।

इस प्रकरण में उनके उपन्यास 'दुक्खम सुक्खम' की चर्चा जरूरी है। उस उपन्यास का एक हिस्सा निश्चय ही संयुक्त परिवार के सामंती ढाँचे में एक स्त्री के पीड़ित होने की कथा है, लेकिन इस कृति में तीन पीढ़ियों के चरित्रों के बीच की अंतःक्रियाएँ, अंतर्संघर्ष और अपनाये की कथा जब स्वतंत्रता आन्दोलन और लैंगिक असमानता के यथार्थ में प्रवेश करती है तो एक नई ऊँचाई को छू लेती है। उपन्यास में एक पीढ़ी सेठ नत्थीमल और उनकी पत्नी विद्यावती की है, दूसरी पीढ़ी में उनका बेटा कविमोहन और उसकी पत्नी इंदु है। लीला और भागो हैं। तीसरी पीढ़ी विद्यावती की पोतियों प्रतिभा और मनीषा की है। इन किरदारों और इनके परस्पर संबंधों की पड़ताल के मार्फ़त ममता कालिया ने न केवल एक बीते हुए दौर को जीवंत किया है, बल्कि यह भी बताया है कि कोई किरदार एकरैखिक नहीं होता है; उसको जानना है अथवा उसके युग को जानना है तो उसे महावृत्तांतों से बाहर निकालकर रचना होगा। उसको उसके व्यक्तित्वांतरण की गुंजाइश के मध्य प्रस्तुत करना होगा। विद्यावती की कथा यही साबित करती है।

सामाजिक यथार्थ के अंकन के सिलसिले में ममता कालिया घर-परिवार से आगे भी कई बार निकलती हैं। उनका उपन्यास 'कल्चर वल्चर' साहित्य संस्कृति की दुनिया के अँधेरे तलघर की कारगुजारियों की कथा है। उक्त कारगुजारियों के विवरण, जो सांस्कृतिक ह्रास की दुखद तस्वीर हैं, हैरान करते हैं और सोचने के लिए बेचैन भी।

कई कहानियाँ भी हैं जो समाज की विकृतियों पर अपने को केंद्रित करती हैं। 'जाँच अभी जारी है', 'लड़के' सरीखी

कहानियों को इस प्रसंग में पढ़ा जा सकता है।

(4)

ममता कालिया के कथा साहित्य में तीन तरह के लोकेल हैं। उनकी कई रचनाएँ महानगर के जीवन से विषयवस्तु चुनती हैं। 'बेघर', 'कल्चर वल्चर' उपन्यास हों या 'छुटकारा', 'लगभग प्रेमिका' जैसी कहानियाँ, बड़े शहर में घटित होती हैं। 'दौड़' उपन्यास और 'लड़के', 'सुलेमान' 'वसंत सिर्फ एक तारीख' जैसी कहानियाँ अपेक्षाकृत छोटे शहर को अपना ठिकाना बनाती हैं। इन रचनाओं से गुजरो तो लगता है कि हमारी इस प्रिय कथाकार की दक्षता नागरी जीवन के चित्रण में है।

जब उनसे मिली तब भी यही लगता है, उनका व्यक्तित्व मुम्बई, दिल्ली, कोलकाता, इलाहाबाद से बना है और उनकी अपनी कोई निश्चित स्थानीयता नहीं है, लेकिन 'दुक्खम सुक्खम' हमें बताता है, सिर्फ वही क्यों 'राएवाली', 'बाथरूम' जैसी कहानियाँ भी सुराग देती हैं कि ममता जी की स्थानीयता ब्रज अंचल की है, खास तौर पर मथुरा के आसपास की। वह अपनी उपर्युक्त रचनाओं में वहाँ की बोली-बानी, खानपान, रिवाज, आस्थाओं और वातावरण को शिद्दत के साथ सजीव करती हैं।

शायद हर लेखक की वास्तविक स्थानीयता उसके शुरुआती परिवेश से निर्मित होती है। लेखक की स्थानीयता के निर्धारण में इस तथ्य से उतना फर्क नहीं पड़ता है कि वह कहाँ अधिक साल से रह रहा है, कौन-सी नौकरी या कौन-सा व्यवसाय कर रहा है, उसके बच्चों ने कहाँ जन्म लिया या किस स्थान पर रहते हुए कहाँ उसने आखिरी साँस ली। अगर सर्जक की स्थानीयता में कुछ निर्णायक तत्व है तो वह है उसके बचपन, कैशोर्य का स्थान।

लगता है जैसे आधुनिकता के दबावों ने ममता कालिया को अपनी स्थानीयता से थोड़ा दूर किया, लेकिन जब एक मूल्य के रूप में आधुनिकता स्वयं समस्याग्रस्त होने लगी है और उसके लिए लोगों में साठ-सत्तर के दौर वाला सम्मोहन नहीं बचा तो ममता कालिया ने पूरे उत्साह से अपनी बिछुड़ी हुई ब्रज की पृथ्वी को याद किया, गले लगाया। नतीजा निकला 'दुक्खम सुक्खम' जैसे उपन्यास का सृजन।

(5)

एक प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उभरता है कि ममता कालिया की स्त्री दृष्टि का स्वरूप क्या है? इस सवाल की प्रासंगिकता इसलिये अधिक हो जाती है, क्योंकि ममता कालिया खुद एक स्त्री रचनाकार हैं। जिस समय उन्होंने लिखना प्रारंभ किया था, यानी साठ का दशक, तब हिन्दी साहित्य में एक सैद्धांतिकी और मूल्याँकन की कसौटी के रूप में स्त्री विमर्श प्रभावी न था। वैचारिकी के रूप में आधुनिकता एक वृहद् कसौटी थी, उसी के अपने-अपने वर्ग, उपवर्ग थे, इसलिये ममता कालिया के शुरू के लेखन में एक आधुनिक स्त्री उपस्थित होती है जिसके पास अपने विचारों, चाहतों को प्रकट करने की हिम्मत और आजादी है। वह अपने प्रेम, कामेच्छाओं, अरुचियों को व्यक्त करती है। जाहिर है यह तत्कालीन भारतीय समाज में स्त्री के प्रति प्रचलित रवैए और सलूक को देखते हुए काफी अग्रगामी था।

एक खास बात यह थी कि इस तरह की रचनाओं में महानगर का परिवेश था, जहाँ एक कामकाजी, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री के लिए उपर्युक्त लक्ष्य असंभव न थे। अतः आधुनिक और अग्रगामी होने के साथ-साथ ये रचनाएँ यथार्थ को बरकरार रखती हैं, लेकिन कस्बे और छोटे मझोले शहरों और उसमें बसने वाली स्त्रियों का जीवन जब ममता कालिया के लेखन में जगह पाता है तब वह प्रायः घुटता हुआ एक धुँआया संसार होता है। वहाँ प्रायः सहन करती स्त्री होती है, अपनी ख्वाहिशों को दफन करती हुई। कहना है कि ये मध्यवर्ग की स्त्रियाँ हैं जिनकी स्वायत्तता के हनन की दास्तान ममता कालिया अत्यंत प्रभावशाली तरीके से कहती हैं। निश्चय ही इनमें प्रतिरोध और मुक्ति की तेज आवाजें नहीं हैं, किन्तु इनमें पसरा हुआ दुःख और यातना का संसार पाठक को इनकी मुक्ति के पक्ष में सक्रिय करता है। दरअसल ममता कालिया का स्त्रीवाद स्वतः स्फूर्त और आभ्यंतरिक है।

हां एक मुद्दा जरूर गौरतलब है; ममता कालिया को परिवार की चक्की में पिसती, तबाह होती हुई कुछ नायिकाएँ कई बार करीब-करीब विद्रोह के कगार पर पहुँच जाती हैं,

लेकिन वे परिवार के छोटे से सुख के सामने, पति के प्यार भरे किसी भावुक लम्हे के सम्मुख अपनी शिकायत को तज देती हैं; समर्पण कर देती हैं।

(6)

2016 में अपने पति, प्रख्यात लेखक रवींद्र कालिया जी के निधन के बाद ममता जी टूट गई थीं और अकेली पड़ गई थीं। उनके दुख में आँसू कम थे; अन्दर की तड़प और विकलता अधिक। हमेशा मुसकराकर-हँसकर मिलने वाली ममता जी खामोश रहने लगीं। किसी भी चीज में उनकी रुचि, खुशी और उत्सुकता बहुत क्षीण हो गई।

मैं लखनऊ से फोन पर उनसे बात करता तो उनकी आवाज में बड़ा सूनापन महसूस होता।

जल्द ही दिल्ली गया तो उनसे मिलने उनके घर पहुँचा। मैं जब उनके घर की कॉलबेल बजा रहा था तो मेरा दिल ज्यादा गति से धड़कने लगा; मुझे अब इस बात का एहसास हो रहा था कि यह घर पहली बार कालिया जी के बगैर दिखेगा, किन्तु मुझे अधिक हतप्रभ होना था। ममता जी ने दरवाजा खोला। मुझे बैठने के लिए कहकर वह सामने बैठ गईं। उनके बगल में सोफे पर कालिया जी की तस्वीर थी। इसी जगह प्रायः कालिया जी बैठकर अपनी महफिल जमाते थे। आज उनके स्थान पर उनकी तस्वीर के दिनों के बीमारी से कमजोर हो गये। कालिया नहीं, चमकते हुए दीप्ति से भरे, तस्वीर में बोलते हुए वह। मैं एकटक तस्वीर को देखने लगा। ममता जी की आवाज आई, 'यह पहले की फोटो है। रवि इसी रूप में, जिंदादिल और खुशमिजाज रवि, मुझे पसंद रहे। खुद भी कभी अपने को कमजोर, असहाय नहीं दिखाने चाहते थे। यही सोचकर मैंने यह फोटो चुनी।'

मन में आया, पूछूँ कि इसे दीवार पर या किसी स्टैंड पर क्यों नहीं लगाया? लेकिन चुप रहा; लगा शायद इस ममता जी को अनुभूति होती हो कि जीव उनके पास, बगल में है। वैसे ही जैसे पहले।

ममता जी बात करती जा रही थीं। बीच-बीच में, स्वभाव और नाम के अनुरूप मेरे खाने-पीने का ध्यान रख रही थीं। वह सहज दिखने का जतन कर रही थीं। बार-बार बातचीत कालिया जी पर ही केंद्रित हो जाती। मैंने विषयांतर के उद्देश्य से सवाल किया, 'इधर कुछ करने का सोच रही हैं'।

'कोशिश कई बार की, लेकिन जैसे ही लिखना या काम शुरू करती हूँ रवि की सूरत और उनकी यादें हावी होने लगती हैं। लिखना धरा रह जाता है।'

'तब आप कालिया जी पर ही लिखना शुरू करिए। उनके बारे में अपनी सारी यादों को लिख डालिए, तभी मुक्त हो पाएँगी और आगे कुछ कर सकेंगी।' इस तरह ममता जी की प्रसिद्ध कथेतर कृति 'रविकथा' के जाने की बुनियाद पड़ी।

'तद्भव' में 'रविकथा' धारावाहिक रूप से छपने जैसे ही नया अंक आता, लोग सबसे पहले 'कथा' को पढ़ना शुरू कर देते और उसकी तारीफों के पुल बँधने शुरू हो जाते। यह 'तद्भव' के लिए ममता की रचनाशीलता को लेकर कोई इकलौती और नई कृति नहीं थी। पहले भी ऐसा हुआ था और कालांतर में ऐसा होना था।

मुझे स्मरण हो रहा है। 'तद्भव' का पहला अंक आ गया था, जो कि विशेषांक था और भारतीय साहित्य की अन्य विभूति श्रीलाल शुक्ल पर एकाग्र था। दूसरा अंक सामान्य अंक होना था। योजना थी प्रत्येक सामान्य अंक में एक लघु उपन्यास दिया जाए। ममता जी से इस संबंध में बात हुई। उन्होंने बताया कि वे दो उपन्यासों पर काम कर रही हैं, 'तद्भव' की दिलचस्पी जिसमें हो उसे वह पहले पूरा कर देंगी। इस प्रकार 'दौड़' उपन्यास मिला जो 'तद्भव' के दूसरे अंक में प्रकाशित हुआ था और अपनी उत्कृष्टता के कारण वह छपते ही हिन्दी के एक अविस्मरणीय उपन्यास के रूप में स्थापित हो गया था।

कुछ अंकों के बाद 'तद्भव' में उनके कथेतर गद्य की पहली कृति 'कितने शहरों में कितनी बार' का प्रकाशन शुरू हुआ। संभवतः वह पहली बार कथेतर गद्य की एक मुकम्मल पुस्तक की योजना के साथ लिख रही थीं; उसे पहले 'तद्भव' के कई अंकों में लगातार छपना था; बाद में पुस्तक रूप में पाठकों के बीच जाना था। ममता जी की तरह मुझको भी उत्सुकता थी कि हिंदी समाज किस ढंग से इसका स्वागत करेगा। अद्भुत था, पहली ही किस्त जैसे ही छपी

तारीफ भरी प्रतिक्रियाओं की आमद शुरू हो गई। याद है कि तब 'तद्भव' में पीछे के अंक के विषय में पत्र भी 'मत' स्तंभ के अंतर्गत प्रकाशित होते थे। कहना होगा कि ममता जी के 'दौड़' उपन्यास की तरह ही 'कितने शहरों में कितनी बार' पर आई प्रतिक्रियाओं से भी 'मत' स्तंभ जगमगाता

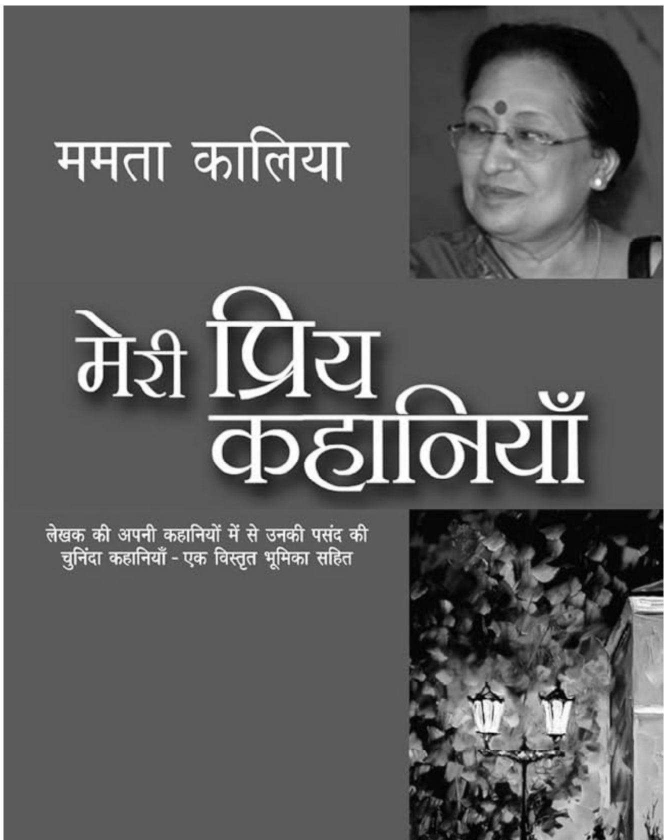

रहता था।

खैर बात 'रविकथा' से शुरू हुई थी। 'रविकथा' हर कृति की तरह एक दिन पूरी हो गई। ममता जी से मैंने पुनः अनुरोध किया, 'देखिए अभी रुकना नहीं है, आपको इलाहाबाद पर विस्तार से लिखना है। इतना कि एक किताब बन जाए।' ममता जी चुप, जैसे अपने भीतर उतर गई हों; सोच रही हों। मुझे अंदाजा था, उनके मन में क्या चल रहा है? क्योंकि मेरे मन में भी कुछ था, तभी मैंने ममता जी से गुजारिश की थी। अपनी बात मैंने यूँ रखी, 'आप जानती हैं, कालिया जी इलाहाबाद पर लिखने को लेकर काफी उत्साहित थे। उनकी उस दीर्घ योजना की पहली किस्त 'तद्भव' में छपी भी थी। वह आगे लिखते, इसके दो रोज पहले ही उनका निधन हो गया था। अब उस काम को आप करें; इसलिये कि आप बहुत अच्छे ढंग से इसे कर सकती हैं। यदि ऐसा हुआ तो एक बेहतरीन रचना आकार ले सकेगी और कालिया जी का छूट गया काम पूरा हो जाएगा।' ममता जी ने जिम्मेदारी ली। इस तरह 'तद्भव' के छः अंकों में इलाहाबाद पर 'गुजरे ज़माने का शहर' शाया हुआ जो 'जीते जी इलाहाबाद' नाम से जब राजकमल प्रकाशन से आया तो उसकी लोकप्रियता का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि महीनेभर में संस्करण समाप्त हो गया।

(7)

यदि ऐसी कोई शर्त हो कि ममता जी के बारे में एक वाक्य में कुछ कहना है तो यही कहना चाहूँगा—ममता जी अप्रतिम गद्यकार हैं।

ममता जी की लेखन सम्पदा में सबसे बेशकीमती तत्व है उनका गद्य। प्रचलित शब्दावली में कहूँ तो नौलखा है उनका गद्य। ध्यान से देखें तो उनके कथा साहित्य और कथेतर साहित्य, दोनों में उनके गद्य के अनूठेपन का ठाठ दिखता है। विशेष यह है कि दोनों विधाओं में उनके गद्य की सूरत समानधर्मी है।

यहाँ तक कि अपने सामाजिक व्यवहार में लोगों से संवाद करते, व्याख्यान देते, साक्षात्कार देते हुए भी उनकी भाषा में वह रंग रहता है। उनके गद्य में आपको गहन आत्मीयता की ऊष्मा महसूस होगी, लेकिन उतने ही तीव्र तंज के कड़वेपन का जायका भी साथ में मिलेगा। यह सलीका अपने रचना चरित्रों के प्रति आवश्यक लेखकीय लगाव और तटस्थता बरतने से हासिल होता है। अगली बात, उनकी भाषा दृश्य रचने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध दिखती है। उस दृश्य में वास्तविकता तथा लोगबाग का सूक्ष्म पर्यवेक्षण मिलेगा; माहौल का माकूल संवाद मिलेगा। इन सबके संग लेखक की खुशमिजाजी-हाजिरजवाबी और थोड़ी-सी नाराजगी का रसायन रचना के वर्णन को पाठक के भीतर उतारकर एक ऐसी पुख्तगी प्रदान करता है कि वह मिटाये भी नहीं मिटता है। यही ममता जी के गद्य का अंदाज है। उनका अपना हस्ताक्षर। जीवन में वह जरूर ज्यादातर ममतामयी हैं, किन्तु लेखन में वह पूर्णतया वैसी नहीं हैं। एक गद्यकार को वैसा होना भी नहीं चाहिए। वह अपनी रचनाओं के मैदान में तेज प्रहार भी करती हैं। कथा में और कथेतर में भी। हालाँकि फेसबुक पर या पत्र-पत्रिकाओं में जब वह किसी लेखक की पुस्तक पर समीक्षा, आलोचना जैसा कुछ लिखती हैं, तो अपने सारे तीर तरकश में धर लेती हैं और तब उनका ममतामयी पक्ष ही काम करता है।

ममता जी के गद्य की एक अन्य विशिष्टता है, उसमें नगर और देशज की भाषा रंगतों का सहमेल। वैसे भी ब्रज की संस्कृति में उनका बचपन बीता है, दिल्ली में रहीं, बाम्बे में भी और फिर इलाहाबाद में। बीच-बीच में बहुत शहरों में रहीं, जिनका जिक्र 'कितने शहरों में कितनी बार' में हुआ है। सभी जानते हैं, कि भाषा, भूगोल के अनुसार बनती, और बदलती है; तो कई भाषिक रंगों के मिलने से ममता जी की भाषा का रंग निर्मित हुआ है। यह अलग बात है कि वहाँ मथुरा और इलाहाबाद के रंग जरा चटख हैं।

(8)

कुछ दिनों पहले प्रतिभाशाली आलोचक राहुल सिंह से फोन पर बात हो रही थी। वह भुवनेश्वर में हुए कलिंग लिटरेरी फेस्टिवल से लौटे हुए थे। कुछ बताने के पूर्व उन्होंने मुझे मेरी एक बात का स्मरण कराया। हुआ यह था कि रवींद्र कालिया जी के न रहने पर अचानक मेरे मन में एक बात आई थी कि जब वह थे तो उनके व्यक्तित्व में ऐसा जबरदस्त आकर्षण था कि हर पीढ़ी के लोगों का मेला था उनके जीवन में। वह जहाँ रहे वहीं महफ़िल लग जाती और ठहाके गूँजने लगते। निश्चय ही ममता जी तो उनके साथ रहती ही थीं, अतः सारी चहल-पहल उनके हिस्से में भी थी। कालिया जी के चले जाने पर मुझे फिक्र हुई कि वह सारा गुलजार जो कालिया जी के चलते था, अब नहीं रहेगा; और ममता जी अकेली पड़ जाएँगी। उन्हीं दिनों की बात है राहुल से बात हुई थी और मैंने उनसे कहा था कि ममता जी से बीच-बीच में आप लोग बात कर लिया करो, ताकि कालिया जी के न रहने के बावजूद वह अकेले पड़ जाना न महसूस करें। उसी बात को राहुल याद दिला रहे थे, फिर कहा, 'आपने एक समय यह कहा था, लेकिन अब सब अद्‌भुत रूप से बदल चुका है।'

'क्यों, क्या हुआ?'

'मैं भुवनेश्वर के एक क्षेत्र में गया था वहाँ ममता जी भी थीं। आप यकीन मानें उनका वहाँ पर जैसा सम्मान-आकर्षण, रुतबा था, वैसा मेरी समझ से आज किसी भी स्त्री-पुरुष कथाकार को प्राप्त नहीं है। चारों तरफ ममता जी छाई हुई थीं।'

मुझको दोतरफा खुशी मिली। एक इसलिये कि सब ममता जी के हिस्से में था। दूसरी वजह खुश होने की यह थी कि भरोसा बढ़ा कि आज के मार्केटिंग, आत्मप्रचार शक्ति का इस्तेमाल करके आदर, सफलता पाने वाले वक्त में एक सादा, निष्कपट, संकोची और शालीन शख्सियत को भी प्यार, इज्जत और शिखर मिल सकता है, और किसी से कम नहीं, बल्कि ज्यादा।

स्त्रियाँ...ज़िंदगी समुंदर जैसी है!

मनीषा आवले चौगांवकर

कहते हैं कि अगर धूप-छाँव के रंग नहीं तो जिंदगी बेरंग हो जाय, पर उसके लिए जिंदगी के मायने ही जीवंत रंग सपनों के रंग हैं। धूप-छाँव के रंग, आनंद-उदासी के रंग, कदम रखे धरती पर रंग, पंख पसारे तो आसमां के रंग और एक रंग उसके अपने मन का, जिसके रंगों में गुनगुनाती रही एक उदास धुन पर। जब बिखरती है जिंदगी के कैनवास पर तो जिंदगी ने कहा ये स्वयं तू है! हम स्त्रियों को समझना, परिभाषित करते हुए एक फ्रेम में बाँधना आज के दौर में नामुमकिन है।

स्त्री स्वयं एक कला है। स्त्री है तो दुनिया में शृंगार का प्रेम आसक्ति भक्ति भाव जीवंत है। घृणा का अनुपात कम है, पर आज भी लड़कियाँ सामाजिक दबाव झेलती हैं। अफसोस, भ्रूण हत्या भी अभी तक कायम है। सवाल बस इतना है कि हम कैसा जीवन जीना चाहते हैं, कैसी प्रकृति चाहते हैं जो स्त्री के बिना सोची जा रही है माँगी जा रही है। मानव जीवन में जन्म लेने के साथ ही आकांक्षाओं-सपनों का जन्म हो जाता है। फिर ये जीवन संघर्षों में कहीं धूमिल पड़ने लगते हैं कभी कुछ साकार रूप लेते हैं। कहीं कई बार सुप्त रहते हैं। समय का प्रवाह इन्हें मद्धिम कर देता है। सपने हमारे व्यक्तित्व का आईना होते हैं, पर इन्हें मुकाम देना कलयुग में भी आसान नहीं है। स्त्री योनि में जन्म तब सफलता का सफर थोड़ा ज्यादा पड़ावों, विकल्पों के साथ आगे बढ़ता है। सोचने की बात है कि स्त्रियों का जीवन दो पाटों में बँटा हुआ है। जन्म से युवा होने तक पितृ-भ्राता संरक्षण में एवं शादी के बाद पुरुष समाज, यानी पति। इस तरह देखा जाय तो स्त्री-पुरुष अंतर्भाव में द्वंद्व द्वेष का रण चलता ही रहता है। कभी पिता रूप में कभी पिया साथ में।

जीवन मरु में प्यार की सरिता प्रवाह एक परिभाषा अपने परिवार को देती स्त्री। क्या वह स्वयं की शत्रु भी होती है पुरुषों से ज्यादा? उसके पास जलन प्रतिद्वंद्विता का नैसर्गिक गुण है। कई बार जिससे अपने अस्तित्व को समेटते प्रतीत होने लगती है। इसके माध्यम से वह स्वयं को परास्त कर आकाँक्षाओं को हकीकत में बदल सकती है।

तिनका-तिनका नये शहर में और नया घर, नयी विचारधारा गृहस्थी और नयी जिंदगी, नये रिश्तों को बुनती एक कामकाजी बिटिया, होम मेकर बिटिया, पिता-माँ के संस्कारों को लेकर रिश्तों के नये संसार को रचकर कैसे अपना आसमान भी बुनती है। निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते हैं कि किस मामले में स्त्रियाँ पुरुषों से बेहतर हैं, मगर उनसे कमतर भी नहीं हैं। मापदंडों का पैमाना जो चाहे हो। इस संदर्भ में एनीबिंसेट का कथन सार्थक लगता है कि स्त्रियाँ ही हैं जो लोगों की अच्छी सेवा कर सकती हैं। दूसरों के लिए उदारमना हो सकती हैं। जिंदगी को अच्छी तरह से प्यार कर सकती हैं एवं मृत्यु की गरिमा प्रदान कर सकती है।

कभी खूबसूरत बोलती आंखें, कभी मौन भाषा लिए प्रेम जैसे अहसास को उर में हिलोरें-उमंग देने वाली स्त्री को परिभाषा में बांधना नामुमकिन शास्त्र है! कोई ओर-छोर पकड़ाई में नहीं आता है! तमाम अनकही बातें, भावनाओं का ज्वार भीगने लगता है, शब्द भावों को कागज पर उतार नहीं पाते। शायद उस स्त्री के अक्स को पकड़ नहीं पाते हैं। परछाई छूना ही आसान कहाँ है? जन्म से ही शिशु नवजात को जीने की कला मिल जाए, यह संभव नहीं होता है। जीवन जीने की कला का संसार हमेशा दूसरों से ही मिलता है। इस भूमिका में स्त्री को दार्शनिक बहुआयामी होने का ईश्वरीय वरदान मिला है जो नकारा नहीं जा सकता है। एक समय में एक स्त्री माँ होती है, कभी शिक्षिका भी है। गुरु रूप में शिष्यों के व्यक्तित्व का विकास वहीं उसी समय मातृशक्ति रूप में ममतामयी और पत्नीधर्म में संवेदनामयी पर सभी भूमिका में एक धनात्मक विचार विशेष है कि जो हम स्त्रियों से होते हुए अगली पीढ़ी तक हस्ताँतरित हो रहा है। अंततः वह हर रूप में जुड़ी हैं उसके

अपनों के लिए असीमित संभावनाएँ। इसलिये स्त्रियों का जीवन सकारात्मक सोच की ऊर्जा का अनवरत प्रवाह देता है जो उसे परिवार एवं समाज की धुरी बना देता है। यही जीवन का समीकरण हम स्त्रियों के अंतर्मन का स्त्रीत्व भाव अस्त भी नहीं होने देता है।

जीवन को जीवंत भाव से सँवारती...मैं नारी शक्ति, मैं स्त्री! कैसे हो सकता है मेरा जीवन अर्थहीन? कभी मैं माँ कभी बेटी, प्रेयसी, पत्नी, बहन, न जाने कितने किरदारों के साथ बिटिया से उतरोत्तर पदोन्नति लेने वाली...मैं स्त्री!

मेरी ओर से सुप्रभात का सूरज उगता है और हर उम्मीद की किरणें मुझसे पहुँचें मेरे अपनों तक पहुँचें। यहीं सोच-सोच आनंदित होती हूँ। एक स्त्री का यही सकारात्मक दृष्टिकोण समाज-परिवार को सफल बनाने में मदद करता है। स्त्री जन्म है तो ज्यादा पड़ावों के साथ ही सफलता का सफर हो सकता है। वास्तव में स्त्री की दुनिया प्रक्रिया रूप में परिवर्तित हो रही है। उसके पास विचार-सोच एवं विरोध के लिए पढ़ाई का काबिल तमगा भी है, फिर भी सच भ्रमकारी ज्यादा है। मध्यमवर्गीय महिलाएँ और संघर्ष थोड़ा सा ज्यादा जैविक रूप से पुरुष न होने के कारण। वो जानती है जिस समर में वह कूदी है यहाँ खुद उसे ही तलाशना है अपना आसमान, तौलना है पंखों को।

स्वयं तपना जलना निखरना होगा। स्त्री होना कोई उसके लिए विशिष्ट उपलब्धि पा लेने का साधन नहीं है, बल्कि उस जन्म योनि के अस्तित्व को साकार करना है। लेडीज फर्स्ट जैसे व्यंग्य के साथ दबी-दबी स्त्री अचानक बदलाव कैसा आया? नहीं, दुनिया में कुछ अचानक नहीं होता। बहुत अचानक होने वाली घटनाएँ भी तपा करती हैं समय की हांडी में। ये बदलाव वाली स्त्री जौहर कर चुकी पद्‌मिनी नहीं थी, न प्रजा को झरोखे से दर्शन देने वाली कोई मल्लिका। ये स्त्री बरसों से घर को चारदीवारी में समेटे वही देवी थी जिसकी चाहत रही है स्वयं को साबित-सुरक्षित करना। यह उसी जमीन पर उन्हीं चुनौतियों के बीच जिनमें पुरुष खुद को सिद्ध करता आया था, अब केवल नाजुक सी घूंघट वाली आत्मविश्वास से भरी स्त्री होने के कारण उन तमाम अवसरों को नहीं खोना चाहती है, जिन पर पुरुष वर्चस्व रहा है।

सच्चाई यह भी है कि शक्ति के बिना शिव की संपूर्णता ही अधूरी मानी जाएगी। पूर्णता बिना स्त्री शक्ति के कहीं होती है। अगर हम श्रीकृष्ण की बात करें तो वह राधा संग साथ पाकर ही सोलह कलाओं में परिपूर्ण हुए हैं। हर मनुष्य में पाँच कलाएँ होती हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम चौदह कला सँपन्न कहे जाते हैं, लेकिन श्रीकृष्ण को दो और कलाएँ इसलिए प्राप्त हुईं, क्योंकि रास रंग, प्रेम और शृंगार का भाव भी समाहित थे। सोचनीय विषय है कि आज स्त्री शक्ति की उपेक्षा होती है। उसे कदम दर कदम अपना अस्तित्व साबित करना पड़ रहा है। कन्या जन्म कई राज्यों में अभी भी अभिशप्त माना जाता है। ऐसे में देवत्व प्राप्त करने की बात स्वप्न जैसी होगी। संतुलन, सृजनशीलता एवं सृजन का पर्याय है स्त्री। स्वयं हम संपूर्ण स्त्रीत्व का बोध कर सकते हैं। महज समर्पण भाव से जिंदगी जीना कितना कठिन एवं साथ ही किस तरह महत्वपूर्ण है। यदि हम स्त्री रूप का सम्मान नहीं करेंगे, तो प्रकृति का अपमान है। यहाँ नारी द्वारा नारी के सम्मान की बात भी सामने लाना जरूरी है। नवरात्रि में कराया जाने वाला कंजिका भोजन अर्थहीन हो जायेगा, यदि नारी स्वयं अपनी नारी शक्ति का सम्मान न कर पायें।

मौन में...
मेरी विस्मित पुकार!
किसलय उपवन में...
अनगिनत रंगों का सतरंगी लिहाफ!
सुगंधित है धरा निसर्ग मुझसे...
दीप्त अलौकिक प्रकाश
फैला है सुरमई अँधेरी बयारों में!
उन कलरव करते पंछी में...
मेरे ही मन का नाद!
कहीं घुटन की त्रासदी, कहीं अनल-सा संताप...
फिर भी अन्शु, दरों, पगडंडियों से
उज्ज्वल प्रभास की ओर...बढ़ते कदम!

शिक्षा किस ओर

डॉ. डी.एन.सिन्हा

शिक्षा जीवन की एक बुनियादी आवश्यकता है। यह सामाजिक परिवेश की अनोखी रूपरेखा है जो अपने तथा दूसरे को सामाजिक सभ्यता और संस्कृति का बोध करा सके तथा सभी के साथ रहने की कला का एक अद्भुत संकल्प है। जीविकोपार्जन करना भी इस शिक्षा का एक कार्यक्रम है तथा 'सत्य, अहिंसा परमोधर्मा' को समझने का एक प्रयास है। कुछ पुस्तकें पहले भी लिखी गयीं; जैसे गीता, रामायण, वेद, पुराण और उपनिषद इत्यादि। इन सभी ग्रंथों को पढ़ने और समझने पर ऐसा लगता है जैसे प्राचीनकाल में शिक्षा का स्तर कितना उत्कृष्ट था जिसका परिणाम आज भी बना हुआ है, इसीलिये इन ग्रंथों का स्थान कोई अन्य पुस्तक नहीं ले सकती है, अतः ये सभी ग्रन्थ मान्य हैं और पूज्य हैं।

मनुष्य अपने विकास के रास्ते से गुजर रहा है। इसलिये कहा जाता है कि विकास एक निरंतर सतत् प्रक्रिया है जिसमें आपको सतत् चलते रहना पड़ेगा। शिक्षा आज किस मोड़ पर आ गयी है, इसका वर्णन उचित नहीं होगा। मनुष्य जन्म से मृत्युपर्यन्त कुछ न कुछ सीखता ही रहता है। जिसका प्रारम्भ तो है लेकिन शिक्षा अनन्तरूपिणी है। मनुष्य पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं हो पाता, अंत में ऐसा लगता है जैसे कि कुछ आता ही नहीं। ज्ञान मस्तिष्क की गतिविधियों से जुड़ा हुआ है। शिक्षा भी वही है, जिसको वातावरण और परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं, लेकिन कुछ हद तक। मेरे एक मित्र कहा करते थे—"पढ़तब्यं तो मरतब्यं, न पढ़तब्यं तो मरतब्यं।" इसका मतलब यही है कि शिक्षा मोक्ष प्राप्त करने का साधन नहीं है। न ही इसमें अमर होने का उपाय। मनुष्य के कार्य ही उसके मरने के बाद उसको विचारों में जीवित रख सकते हैं, अन्यथा सब कुछ प्राचीन किलों का खण्डहर इतिहास बना रहेगा और आने वाली पीढ़ी के लिए यही विषय वाद-विवाद का प्रश्न बन जाएगा जो आजकल चल रहा है। सबके विचार अलग-अलग और सोच थोड़ा-बहुत जीने के लिए एडजस्टमेंट ;करनेज. उमदजद्ध में होता है। प्रथम शिक्षा मनुष्य, माँ और परिवार के निकट ही प्राप्त करता है जो कुछ सिखाया जाएगा, बच्चा उसे ग्रहण कर लेगा। स्कूल से पहले बुनियादी शिक्षा का पत्थर परिवार में ही लगता है। धीरे-धीरे बड़ा होकर खेल के स्कूल तथा के. जी. इत्यादि की कक्षाओं में अध्ययन करते हैं, लेकिन शिक्षा की प्राप्ति उम्र के अनुसार ही होती है। पाँच वर्ष तक मस्तिष्क का विकास होता रहता है। शरीर में नई कोशिकाओं का सृजन और उनके सामंजस्य का कार्यक्रम चलता रहता है। यह समय, परिवार के वातावरण एवं सामाजिक परिवेश का प्रभाव निश्चित ही बुनियादी नींव की स्थापना में मदद करता है तो प्रथम शिक्षा प्रारम्भ से पूर्ण तक परिवार से ही होती है। माँ की कोख में पलता बच्चा भी कुछ सीखता है। जैसे अभिमन्यु ने चक्रव्यूह के बारे में माँ के गर्भ में ही सुना था, यह सत्य है। माँ का जीवन बच्चे के विकास की आधारशिला का एक अंग है। माँ से बच्चे का जीवन पूर्ण विकसित होता है। यह सत्य से आगे है। इसको वैज्ञानिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जीवन में आगे की शिक्षा पूर्ण रूप से बाजारू हो गयी है।

ऐसा नहीं जो पैसे से प्राप्त करेगा वही आगे जायेगा। भाग्य भी तो है। कुछ लोग प्रारम्भ में गरीब थे, लेकिन भाग्य ने अच्छा अवसर प्रदान किया। कुछ अपवाद तो हो सकते हैं, लेकिन शिक्षा का कोई जोड़ नहीं हो सकता। वैसे सरस्वती और लक्ष्मी दोनों अलग-अलग हैं, लेकिन किसी को कोई रुकावट नहीं, वो जो चाहे प्राप्त करे। भाग्य कैसे बनता-बिगड़ता है। ज्योतिषी लोग ही ठीक बताते हैं। ग्रहों

की गणना कर बता देते हैं कि मनुष्य क्या बनेगा और क्या कमायेगा। जीवन कैसा रहेगा? ज्योतिष की शिक्षा आजकल कमाई का प्रेरक बन गया है। कभी घर पर तो कभी टीवी पर या समाचार-पत्र में आकर अपनी प्रतिभा की कमाई खाते रहते हैं, लेकिन भाग्य का खेल कैसा है, ये मनुष्य के ज्ञान से परे अर्थात् मनुष्य के ज्ञान में अपूर्ण है।

प्राथमिक शिक्षा से ही मनुष्य बढ़ने लगता है। जिनके पास पैसा है वह अच्छे स्कूल में पढ़ने जाते हैं। इससे इनके माता-पिता की आर्थिक स्थिति के बारे में पता चलता है और जो अभाव में जीवन यापन कर रहे हैं उनके बच्चे सरकारी स्कूल तथा अन्य जनता स्कूलों में पढ़ने जाते हैं। जबकि अच्छे स्कूलों की पढ़ाई बाजारू तथा मॉल संस्कृति हो गयी है और दूसरी तरफ सरकारी स्कूल या जनता स्कूल अभाव में जीवित हैं। इनका भाग्य ईश्वर के हाथ में है। वर्णन करना कठिन है, क्योंकि उपाय अब ईश्वर के हाथ में हैं। जनता के हाथ में कुछ भी नहीं। सरकारी कृपा पर सब निर्भर हैं। चुनाव आने पर स्कूल, शिक्षा, पढ़ाई एवं रखरखाव पर सभी आश्वासन देते हैं, लेकिन इन स्कूलों की किस्मत जाने कैसे लिखी गयी है। सुधर तो क्या और बिगड़ता ही जा रहा है। बड़े स्कूलों की फीस आसमान छूने के बराबर है। पढ़ाई व्यवस्था या अन्य पर बिचार करना अब अपने आपको धोखा देना है। इन्हीं कारणों से समाज में विषमता, विघटन और कटुता बढ़ती ही जा रही है। शिक्षा के प्रति कितने संवेदनशील हैं? यह अनुभव की बात है। आगे भारत का निर्माण कैसे होगा? ग्रामीण अंचलों के स्कूलों को देखने पर अनुभव होगा कि क्या-क्या कमी है। इन स्कूलों में, जहाँ मूलभूत सुविधाओं और शिक्षकों की कमी बनी रहती है। योजनाओं एवं कागज की फाइलों में तथा सरकारी कार्यालयों में इन स्कूलों का भविष्य अधर में लटका रहता है। हम प्रायः इंफ्रॉस्ट्रक्चर की बातें करते हैं, लेकिन इसका रूप कैसा है, सोचना पड़ेगा। गाँव को गाँव ही रहने दें, विकास की आड़ में आश्वासनों से नहीं ढकें। फोर लेन गाँव से गुजरे लेकिन यदि स्कूल और स्वास्थ्य पर ध्यान न दिया जाए तो भारत कैसे अच्छा होगा। शिक्षा, स्वास्थ्य और भोजन तथा रहने का मकान ही तो चाहिए। आसमान से तारा तथा चन्द्रमा से कुछ नहीं मिलेगा। अब तो शहरी स्कूलों में नेट और कम्प्यूटर आ गया है। अब तो बच्चों का होमवर्क नेट से भेज दिया जाता है। माँ-बाप नौकरी करके रात में आते तब तक साइबर सेंटर बंद हो जाता कहाँ से कंप्यूटर तलाशें। स्कूलों को चाहिए ये नेट से होमवर्क इत्यादि न भेजें। नहीं तो स्कूल एक दिन इंटरनेट स्कूल हो जाएंगे। पढ़ाई का स्तर क्या होगा? टेक्नोलॉजी का उपयोग एक सीमा तक हो। भविष्य में इससे होने वाले नुकसान के बारे में पता चलेगा। बढ़ी हुई फीस माँ-बाप पर बोझ न बढ़ाए तथा बच्चों के झोले का वजन भी घटाएं अन्यथा परेशानी सबको होगी। बच्चों को मॉल-बाजार की संस्कृति से दूर रखना होगा, ऐसा एक समन्वय के साथ करें। जीवन को इतनी कठिनाई में न डालें। सरकार को चाहिए कि स्कूलों की आर्थिक स्थिति ठीक रखे, स्कूलों को कमाई का जरिया न बनाएं। यह तो नवनिर्माण से जुड़ा हुआ कार्यक्रम है। स्कूल कॉर्पोरेट सेक्टर नहीं हो सकता। शिक्षा सबको मिलनी चाहिए। शिक्षा खर्च पर टैक्स नहीं लगना चाहिए। स्कूलों में बच्चों के कुपोषण पर ध्यान देना आवश्यक है, अतः भोजन, चिकित्सा बच्चों को निरंतर मिलनी चाहिए। योजना के कार्यक्रम को बदलना ही आवश्यक है। बच्चों के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान की जरूरत है, क्योंकि बच्चे ही तो देश का भविष्य हैं। उच्च शिक्षा का क्षेत्र व्यापक हो गया है। बड़े घराने और कॉर्पोरेट जगत आगे आ गये हैं। डीम्ड विश्वविद्यालय की संख्या बढ़ गयी है। उनके विज्ञापन बहुत ही लुभावने आते हैं जोकि विश्व की सुन्दरतम पढ़ाई का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। इनका सम्बन्ध विश्व के अन्य विश्वविद्यालयों से हो गया है। यह सब पैसे का खेल है। इनके प्रवेश में पैसा लगता है, क्योंकि ये सरकारी पोषक

नहीं हैं, बल्कि कॉर्पोरेट घरानों की देखरेख में चलते हैं। उच्च शिक्षा को इन लोगों ने खरीद लिया। इनके विश्वविद्यालयों में शिक्षा, मॉल संस्कृति पर विकसित है जो पैसा फेंक तमाशा देख को परिभाषित करते हैं। इनकी लक्ष्मी (आय) का स्रोत क्या है, कोई नहीं जान सकता है। अब यू. जी. सी. संस्था का नाम कम सुनाई पड़ता है। कानून बहुत सारे बना दिए गये हैं, लेकिन कहाँ से पूरे होंगे, नहीं मालूम। पढ़ाई का स्तर विश्व के स्तर का। इनको नौकरी भी यही विश्वविद्यालय प्रदान करते हैं जिसको आज की भाषा में प्लेसमेंट कहते हैं। यह अब आकर्षण का केन्द्र बन गये हैं। लगता है यह स्वयं रेगुलेट हैं, धीरे-धीरे नीति आयोग इनका स्थान लेगा, लेकिन संस्थान उच्च घराने के हैं, अतः इसका कितना प्रभाव रहेगा बताना मुश्किल होगा। आजकल विषयों की संख्या बढ़ गयी है। आधुनिक शिक्षा जो विदेशों में है वो भारत में भी आ गयी है। प्रबन्धन विषयों की सूची का अंत

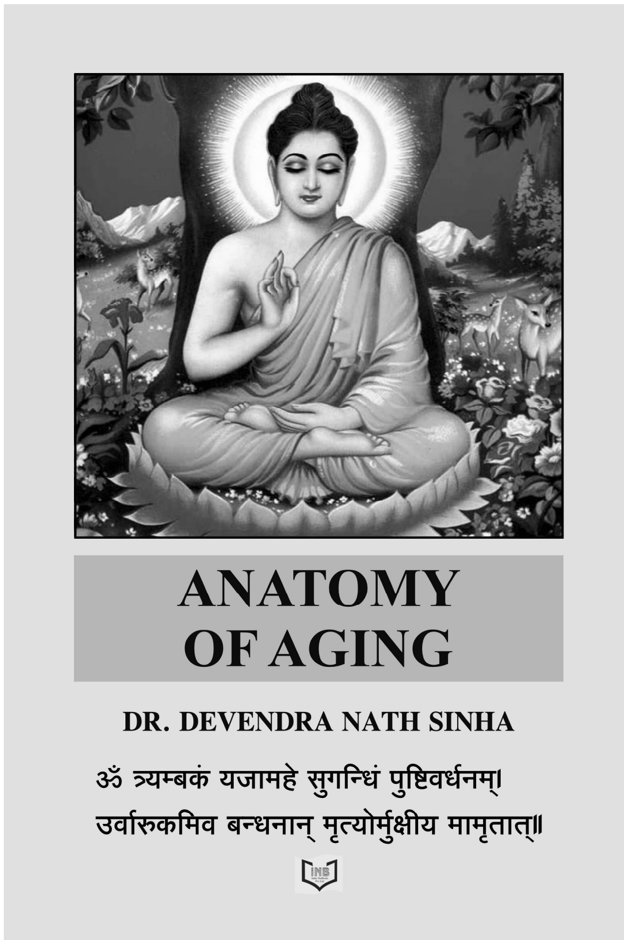

नहीं। विश्व के अन्य देश भारत में आ रहे और अपनी डिग्री को भारत में दे रहे हैं। शिक्षा सीमा से परे है, यही आपके दिन की प्रगति है। अब गुरुकुल परम्परा की शिक्षा का अंत हो गया है। रविन्द्रनाथ टैगोर के शांति निकेतन तथा मदन मोहन मालवीय और सर सैयद अहमद खाँ की सोच से भारत आगे जा चुका है। शासन की तरफ से एक शिक्षा का पहलू स्किल इंडिया का भी है। जो रोजगार के लिए है, ताकि छात्र आगे कोई काम कर सकें, स्टार्टअप ले सकें तथा भविष्य में योग्यता प्राप्त करके जीविका की खोज कर सकें। टेक्नोलॉजी बदल रही है। तरह-तरह के परिवर्तन, आजकल इंजीनियरिंग किये हुए लोगों को उचित नौकरी नहीं मिल रही है। औद्योगिक क्षेत्र में मंदी के कारण लोग बेरोजगार हो रहे हैं। इसके लिए अच्छी तरह से समस्या का समाधान करना होगा। शिक्षा में प्रगति के लिए आवश्यक है कि शिक्षकों को उचित सम्मान मिले। इन्हें कॉन्ट्रैक्ट पर न रखा जाय, इन्हें नियमित शिक्षक के रूप में रखें। इनकी तनख्वाह समय पर और उचित मिले, जिससे अपनी जीविका चला सकें और बच्चों की शिक्षा पर योगदान दे सकें। अगर शिक्षक दुखी होंगे तो शिक्षा का स्तर गिरेगा। शिक्षक देश के नवनिर्माण में अधिक योगदान देते हैं। शिक्षकों की कमी नहीं होनी

चाहिए। शासन को शिक्षा में प्राथमिकता के आधार पर सहयोग करना चाहिए, जिससे भविष्य में छात्र देश के लिए उपयोगी बन सकें। स्कूलों के रख-रखाव, प्रबन्धन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। देश में शिक्षा में समानता तथा सभी का विकास और बिना भेदभाव के अवसर देना होगा। मानव कल्याण में इसका उचित स्थान है। शिक्षा को बाजार वाली संस्कृति से दूर रखना। शिक्षा जीवनभर चलती रहती है। भारतीय जनता से निवेदन है कि इसे बाजारीकरण की व्यवस्था से दूर रखें। शिक्षा में वैसे तो बहुत सुझाव आते हैं, किन्तु उन्हें अमली जामा पहनाये बिना ही आगे की सुध लेने लगते हैं। लोकतंत्र को बचाये रखने के लिए शिक्षा में सुधार नितांत आवश्यक है, जिससे मानवता फूले-फले। देश की बुनियाद उसकी बुनियादी शिक्षा पर निर्भर करती है। शोध की शक्ति इसी से उत्पन्न होगी। राजनीतिक बीज न बोयें, नहीं तो भविष्य में इन्हीं की छाया दिखाई देगी। स्वस्थ परम्परा डालें। चाणक्य पहले भी थे। शिक्षकों को चाणक्य नहीं बनना है। इतिहास में ही रहने दीजिये। बाहरी शिक्षा के विचारों को नहीं अपनाएँ और न ही उनसे प्रभावित होना चाहिए। शिक्षा को साइबर गलियारों में नहीं रखें। शिक्षा को एक साधन के रूप में रखें। उसको अपना गुरु नहीं समझें। मानव मस्तिष्क पर आधारित विषयों पर ज्ञान को आगे बढ़ने दें। जीवन अमूल्य है। थोड़े ही दिनों के लिए होता है, सिर्फ सत्य रह जाता है।

देश की प्रगति शिक्षा पर निर्भर है। इसको बाजार का रूप न दें। भारतीय शिक्षा पद्धति बहुत ही प्राचीन है। इसको कम करके नहीं आँका जा सकता। पाश्चात्य सभ्यता की नक़ल करना अनुचित है। यदि विश्वगुरु बनना है तो अन्य देशों की नक़ल करना अनुचित है। शिक्षा के अभाव के कारण ही आज मनुष्य तथा देश असुरक्षित महसूस कर रहे हैं तथा सुरक्षा के लिए हथियार खरीद रहे हैं, जोकि मानवता का विनाशकारक है।

इसको कोई नहीं समझ रहा है। यह शिक्षा का एप्लाइड पार्ट है। अतः शिक्षा का उपयोग आवश्यक है, अन्यथा विश्व का रूप युद्ध से विनाश की तरफ प्रदर्शित होगा। बड़े देश हथियार बना रहे हैं, जबकि अत्यधिक जनता अभावग्रस्त होकर भूख और बीमारी से त्रस्त है। विज्ञापन लुभावने बन रहे हैं। उन पर जाना अब ठीक है। लोकतंत्र खतरे में रहेगा यदि शिक्षा का अभाव रहेगा। शिक्षा केवल मानव कल्याण से जुड़ी रह सकती है। अब हमें नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय चाहिएं और ऐसे शिक्षक जो अपनी शक्ति से छात्रों में नवनिर्माण की भावना जगायें। शिक्षक की इज्जत समाज की है। आज शिक्षक नौकरी के लिए धरना आन्दोलन करते हैं, तथा विधान भवन के सामने अपने ही पुलिस वालों से लाठी-डंडे खाते हैं। लोकतंत्र मौन रहता है। उन्हीं से वोट माँगते और उन्हीं पर लाठी-डंडों से प्रहार करवा के यातनाएँ देते हैं। यह अपने ही देश की गुलामी है, जहाँ नौकरी रहते नौकरी नहीं मिलती। स्कूलों में शिक्षकों की कमी रहती है। यह गाँधी जी का देश है जहाँ अहिंसा का पालन अपने ही देश के लोगों से नहीं हो तो सोचो आजादी किस बात की! जहाँ संविधान शिक्षा के प्रति उदासीन हो तो वह संविधान किस काम का! भेदभाव होना शिक्षा की कमी का उदाहरण है। समाज कैसा हो, लोग कैसे हों ये सब शिक्षा पर निर्भर है। शिक्षा नीति के कार्य करने वाले अच्छे शिक्षक हों, तभी रास्ता निकल सकता है। लोकतंत्र को बचाने के लिए शिक्षक होने चाहिएं। बाजारू संस्कृति, मॉल बेचे जा सकते हैं, लेकिन ज्ञान नहीं। शिक्षा स्तर को ऊँचा उठायें, ताकि हम सब एक साथ आगे बढ़ें।

ममता कालिया से डॉ. संजीव कुमार का संवाद

आप अपने साहित्यिक अवदान के बारे में क्या कहना चाहेंगी? क्या कभी ऐसा लगता है कि कुछ करना छूट गया है? अभी क्या और लिखना चाहेंगी?

अभी तक कभी अवदान जैसी गुरु-गंभीर अनुभूति आयी भी नहीं। हिन्दी का आसमान इतना विशाल और विस्तृत है, जीवन इतना विविध और जटिल है कि मेरा अब तक का लेखन एक बन्द भी समझा जाय तो बहुत होगा। हमसे पहले के रचनाकार इतना महान साहित्य रच गये। वास्तव में लेखन ऊँची कूद नहीं, लम्बी दौड़ होता है, वह भी बाधा-दौड़ वैसे अब मैं बहुत ज़्यादा तो नहीं, दो किताबें लिखना चाहूँगी। उनके बीज मेरे अन्दर लम्बे समय से दबे पड़े हैं। बहुत सी कवितायें भी लिख रखी हैं जो घर में इधर-उधर फाइलों में बिखरी हैं। उन्हें भी एक संग्रह में रखना चाहूँगी।

समकालीन साहित्य में सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के पोषण की क्या स्थिति है? आप यह संतुलन बनाये रखने में कहाँ तक सफल रही हैं ?

मूल्य समय के साथ संशोधित होते चलते हैं, जो सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य पंडित सुदर्शन, गुलेरी जी और प्रेमचंद की कहानियों में दिये गये थे, उन पर वर्षों हमने विद्यार्थियों को प्रेम, देशप्रेम और सच्चाई की शिक्षा दी। स्वाधीनता के बाद भारत में, अन्य देशों की भाँति ही नई चुनौतियाँ आईं। समाज ने पाया कि सभी मनुष्य एक साथ एक जैसे चरित्र व आचरण के नहीं हो सकते। यह भी देखा गया कि कई जगह सदाचार हार जाता है और भ्रष्टाचार जीत जाता है। नौकरी, व्यवसाय, शिक्षा और व्यवहार में नये सवाल पैदा होने लगे, तभी हरिशंकर परसाई ने अपने व्यंग्य लेखों के संग्रह का शीर्षक रखा–सदाचार का तावीज।

एक लेखक को सैद्धांतिक रूप से कभी गलत अथवा नकारात्मक प्रवृत्तियों का समर्थन नहीं करना चाहिए, लेकिन सामाजिक विषमताओं में कई बार उसे सत्य की पराजय देखने को मिलती है। उनसे आँख मूँद लेना पलायनवाद होगा। समकालीन साहित्य ने मूल्यों से पकड़ने का प्रयास किया है। हमारे पीछे यशपाल 'झूठा सच' जैसा उपन्यास

है। भीष्म साहनी का 'तमस' है, और अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र' है। हमें अब ज़्यादा जटिल समाज का चित्रण करते हुए नये संतुलन तलाश करने होंगे, ताकि साहित्य कोई पिछड़ी हुई निधि न लगे। समकाल में वैश्विक स्तर के संकट हम सब को प्रभावित कर रहे हैं। जैसे कोरोना। जैसे बेरोजगारी। जैसे विश्व युद्ध।

काव्य में यथार्थ की अति अभिव्यक्ति क्या उसे अकाव्य नहीं बना देती? यथार्थवाद और छायावाद में से किस विचारधारा को आप प्राथमिकता देंगी?

यथार्थ के कई धरातल और आयाम होते हैं। सातवें दशक में कविता में यथार्थ देहवाद के रूप में आया था। ये जिसकी जीवन-रेखा एक दशक तक रही। वर्तमान समय का बदलता स्वरूप नये आयाम लाया है। आज जीवन इतनी दिशाओं में हमसे नवचिन्तन की माँग कर रहा है कि अगर हम साथ नहीं चले तो पिछड़ जायेंगे। गौर करने की बात यह है कि हर दशक को पिछले दशक की कविता पुरानी और अप्रासंगिक लगती है। हमने भी छायावादी कवियों को पलायनवादी माना और अपनी धारा के प्रतिकूल समझा। मौजूदा समय में कविता बहुत प्रत्यक्ष, प्रखर और प्रतिरोधी हो गयी है। समय की जड़ता तोड़ने के लिए ऐसा होना आवश्यक है।

साहित्य में जेंडर के भेदभाव पर क्या विचार हैं आपके। आपने अपनी रचनाओं में इस विषय पर किस प्रकार निर्वाह किया?

मैं यह मानती हूँ कि कोई जेन्डर नहीं होगा। अन्यथा पुरुष-लेखक नारी पात्रों का सृजन नहीं कर पाते और स्त्री-लेखक पुरुष पात्रों का। लेखन के समय हम अपने किरदार के साथ एकरूप हो जाते हैं। हम पात्र को जीते हैं, पात्र हमसे सरस लेते हैं।

कई लेखिकायें अपने को स्त्रीवादी विचारधारा की मान कर कुछ अति क्रान्तिकारी पुरुष-विरोधी भंगिमा में साहित्य रचती हैं। आक्रामक स्त्री-विमर्श के पीछे 'हंस' के सम्पादक राजेन्द्र यादव कारदहस्त रहा है, क्योंकि जेन्डर-युद्ध अपने आप में एक आकर्षक रोचक विषय है, किन्तु ऐसे आंदोलन अंततः अल्पकालिक होते हैं। जहाँ यह लगे कि हमारा शोषण मात्र इसलिए हो रहा है, क्योंकि हम स्त्री हैं, वहीं इस पुरुषवादी सोच के विरुद्ध आवाज उठाती हैं।

हिंदी अखंडता में एकता का बंधन सूत्र है? क्या क्षेत्रीयता और राष्ट्रीयता की विचारधारा के संतुलन की जरूरत है? क्या इस विचारधारा का आपने किंचित् पोषण किया है?

भारतवर्ष विशाल देश है। यहाँ समाज, संस्कृति और भाषाओं की भरमार है। हमें क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय तीनों कोणों से अपने को भाव और विचार के स्तर पर तैयार करना है। मैं इतने शहरों में रह चुकी हूँ और इतनी भाषा-संस्कृति से जुड़ चुकी हूँ कि मुझे यह समावेशिता सघन रूप बहुत सहज लगती है।

एक चीज जिसने मेरे ऊपर कजरा भी असर नहीं डाला वह जाति है। जिन संस्थाओं में मैंने शिक्षा प्राप्त की, वहाँ जातिगत भेदभाव दूर-दूर तक देखने को नहीं मिला। मेरे पिता श्री विद्याभूषण अग्रवाल, और मेरे जीवन साथी श्री रवीन्द्र कालिया उच्च शिक्षित और खुले विचारों के थे। हमारा विवाह ही दो संस्कृतियों का मिलन था। मैं उत्तर प्रदेश की हिन्दी भाषी, रवि पंजाब के पंजाबी-भाषी। लेकिन कोई आधा नहीं। रवि हिन्दी-प्रेमी ये और मैं तो सर्वदेशीय बन चुकी थी।

साहित्य में जातिगत व धर्माधारित बिंदुओं के उपयोग के बारे में क्या स्थिति रही है? क्या आप कभी इस विवाद का हिस्सा बनीं?

मेरी कई कहानियाँ दलित-पात्रों के सांस्कृतिक संकट को लेकर लिखी गई हैं। आज दलित रचनाकार, हमारे समान शिक्षा ग्रहण कर, हीनता-बोध त्याग कर, सामने मुख्यधारा में आ रहे हैं। जड़मानसिकता के व्यक्ति इस जागरूकता से बेचैन हो रहे हैं। मेरी

कहानियाँ, 'मुखौटा', 'रोशनी की मार' और चोटिटन इसे व्यक्त करती हैं।

दलित संचेतना साहित्य में कहाँ तक समावेशित है? क्या आपकी रचनाओं में दलित विमर्श की कोई नजीर मिलती है?

संस्कृति हमें अंदर और बाहर दोनों तरफ से रचती है, कुम्भकार की तरह आज फैशनेबल, छिछली जीवनदृष्टि वाले वर्ग ने संस्कृति को एक प्रॉडक्ट समझ लिया है। वे संस्कृत के श्लोक लिखे कपड़े पहनना, मटके पर स्वास्तिक चिह्न बनाना या मेले में चरखी पर नाचते हुए की तस्वीर खींचना संस्कृति मान बैठे हैं। सांस्कृतिक चेतना में सबसे अनिवार्य है कि हम आधुनिक रहते हुए भी भारतीय मानस व मनीषा से अभिन्न रूप से जुड़े रहें। संगीत और साहित्य में ऐसा प्रयास करना भी है, इसीलिये भारतीय संगीत, कला व साहित्य के विश्व में केंद्र हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताएँ, प्रेमचंद की कहानियाँ, अज्ञेय के उपन्यास, महादेवी वर्मा के व्याख्यान, दिनकर जी का काव्य और रेणु की ग्राम-कथाएँ हमें भारतीय संस्कृति के साथ-साथ परिवर्तनकामी संस्कृति की झलक दिखाती हैं।

सांस्कृतिक संवेदनशीलता को साहित्य में किस प्रकार समाहित किया जाना चाहिये और क्या बातें ध्यान देनी चाहिए?

सामाजिक सरोकार के बिना साहित्य मात्र शब्दों का अम्बार है। साहित्य की नींव समापन है। एक अकेला व्यक्ति समाज नहीं बनता। उसके साथ परिवार, परिवेश, कार्यस्थल, परिचित, मित्र, विभिन्न स्रोतों से मिले समाचार, सब मिल कर उसका समाज रचते हैं। निर्वासन में श्रेष्ठ साहित्य की परिकल्पना नहीं की सकती। कोरोना काल में भी समाज किसी रूप में हमारे साथ रहा, चाहे समाचार की शक्ल में, चाहे मोबाइल फोन की शक्ल में। आज के डिजिटल युग में सामाजिकता का रूप बढ़ते-बढ़ते वैश्विक हो गया है।

सामाजिक सरोकारों को स्वर देने के बारे में आपकी क्या राय है? अपने साहित्य में आप इस बिंदु पर कितना समावेशी रह कर लिख पाई हैं?

मेरी हर रचना समाज के बीचोंबीच से निकली है। समाज कभी अनुकूल रहा है, तो कभी प्रतिकूल, किन्तु समाज-निरपेक्ष एक भी रचना कभी सम्पन्न नहीं हुई। उदाहरण के तौर पर उपन्यास-बेघर, दौड़, नरक दर नरक, प्रेम कहानी, दुक्खम सुक्खम, कलचर वलचर। हम स्वयं समाज से ही पैदा हुए लोग हैं। समांवेशी नहीं हैं।

हिन्दी कहानी में आपने कई धारायें देखी हैं। आप किस धारा की प्रशंसक हैं ?

दौर या धाराएँ समय के बहाव, प्रभाव या ठहराव जताने को आती हैं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, यथार्थवाद के बीच अनेक उपधाराएँ भी आती रहीं।

मेरे और मेरी पीढ़ी के रचनाकारों को यथार्थवाद से सम्बद्ध माना गया। हमने कविता, कहानी के बदलते दौर से अपना प्रस्थान बिन्दु तब के लेखक के समस्या के कथ्य और कलेवर को पकड़ा और पिछले दौर से अपना प्रस्थान बिन्दु तय किया। पिछले दौर के लेखक समस्या को एक दर्शक की तरह देख कर रिपोर्टिंग करते थे। हमने सहभागी बन कर यथार्थ से मुठभेड़ की। ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, काशीनाथ सिंह, मैं खुद, कामतानाथ, अखिलेश, अरुण कमल, गीताश्री, वन्दना राय, नीलाक्षी सिंह जैसे अनेक महत्वपूर्ण नाम हैं जो मौजूदा यथार्थवादी दौर से जुड़े हुए हैं।

हिंदी साहित्य पर वैश्विक एवं पाश्चात्य साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है? क्या इससे सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों का क्षरण नहीं होता है, आपका क्या विचार है?

साहित्य का पठन-पाठन व सृजन घोंसले में छुपकर नहीं किया जाता। हमें यहाँ बैठे पता होना चाहिए कि सुदूर Iceland या Norway में आज किस तरह

का साहित्य सृजन हो रहा है। आज अच्छे अनुवाद आने से यह ज्ञान सुलभ हो प्रतिगामी नहीं होता। हमें कविता में हो. एसाईलियट से नई भाषा-शब्दावली मिली तथा कहने का नया सलीका भी। युद्ध विभीषिका और असुरक्षा-बोध के मार्मिक चित्र हमें ऑस्ट्रियन और जर्मन लेखकों की रचनाओं में मिले।

तकनीकी क्रांति के दौर में हिंदी साहित्य के रूप-रंग में भी बड़ा बदलाव आ रहा है। इस पर क्या कहेंगी?

इन संचेतनाओं के बिना हम अधूरे हैं। हमारे अपने साहित्य में एक तरफ रूढ़ियों की जकड़बन्दी से छुटकारा, दूसरी तरफ जेट-रफ्तार से आते हुए परिवर्तन मिल कर एक नया संसार रचते हैं। विदेश के साहित्य को पढ़ना, जानना अलग चीज है, उसकी नकल में लिखना बिल्कुल अलग चीज। कई लेखकों पर आरोप लगा है कि वे नकल साहित्य से प्रभावित हैं। मैं इस बात से कष्ट पाती हूँ। हमारी समस्याएँ अलग प्रकार की हैं। एक दिन में यदि हम अपने समाज का एक टुकड़ा पर भी रच लें तो यह बहुत होगा।

क्या डिजिटल पटल लेखकों को सशक्त बना रहा है और उनकी अभिव्यक्ति की गुणवत्ता व गंभीरता में सुधार हुआ है?

तकनीकी क्रांति ने लेखन और लेखक को जहाँ, तत्परता और तात्कालिकता दी है वहीं उसने चिंतन का कसाव-ठहराव और तनाव कम कर दिया है। एक अच्छी रचना में सितार के तारों जैसा तनाव होता है। उसी से विचारों की टंकार हम तक पहुँचती है। हाँ तकनीकी ने हमें सहूलियतें बहुत दी हैं। मुझे याद है कि हर रचना को एक जमाने में या तो कार्बन पेपर रख कर लिखना पड़ता था अथवा कहीं बाहर जा कर gesttrier नाक copier ढूँढ़ना पड़ता था। मैं तो बेसब्र थी। यह सब झमेला मेरे बस का नहीं था। मैं लिखने के बाद रचना पर बीस पैसे की डाक टिकट लगा कर डाक पेटी में बुकपोस्ट कर देती। न कभी कोई रचना खोई, न लौटी। सब डूब गईं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ क्या समझती हैं आप? क्या आपको कभी कोई कठिनाई आई?

डिजिटल पटल में स्व-सम्पादन की अपार सुविधा होती है। आप देर में आए विचार जोड़ सकते हैं। फालतू लिखा मिटा सकते हैं। कागज़ होता है कि वह ज्यादातर प्रतिपक्ष की भूमिका निभाता है। इसके बिना विचारों की रगड़, सम्मतियों, मौलिकता का ताप बन ही न पाये। इसे इत्तेफाक ही समझिए कि मुझे लेखन में कभी कोई घुटन, प्रतिबंधन या प्रतिरोध नहीं मिला, मैं कोई झोलाछाप लेखक हूँ भी नहीं। मेरे विचार से अपना पक्ष रखने का एक सलीका भी आना चाहिए।

लेखकों को अच्छे लेखन के लिए क्या सुझाव देने चाहिए?

हम लेखकों को छद्म और यथार्थ में फर्क करना आना चाहिए। यह नहीं कि कोई विचार पश्चिम में लिखना शुरू हुआ है। लोकप्रिय है, तो उसी तर्ज पर कॉपी कर दिया। हिन्दी में ऐसे कई दौर आए जब पश्चिम की नकल में लेखकों ने चैन, स्वच्छंदता, पारिवारिक विध्वंस और पतनशील परम्पराओं का मोहक चित्रण किया। वैसा लेखन समय के साथ उड़ गया।

आज छोटे-छोटे देशों के लेखक लिख रहे हैं तो सिर्फ इस कारण कि वे अपनी जमीन से जुड़े सवालों पर लिखते हैं।

आप पाठकों को क्या संदेश देना चाहेंगी?

पाठकों के कारण ही हम लेखक हैं। सबसे अच्छे वे पाठक हैं जो हमें पहचानते नहीं, मगर पढ़ते हैं। युवा पीढ़ी में आजकल पढ़ने का चाव दिन-ब-दिन बढ़ रहा है। देखना तुम लोग एक दिन पढ़ते-पढ़ते लेखक बन जाओगे। यही तैयारी चाहिए।

कथा/कहानी

आपकी छोटी लड़की

ममता कालिया

"टुनिया, ज़रा भागकर चिट्ठी डाल आ।"

"टुनिया, ठण्डा पानी पिला।"

''मैंने गैस पर दूध चढ़ाया है। तू पास खड़ी रह टुन्नो। कुछ करना नहीं है। जब दूध उफनने लगे तब तू गैस बन्द कर देना।''

दिन-भर दौड़ती है टुनिया। स्कूल से आकर होमवर्क करती है, थोड़ा-बहुत खाना खाती है। और इसके साथ ही शुरू हो जाता है काम पर काम। घर के टेढ़े से टेढ़े और सीधे से सीधे काम सब टुनिया के जिम्मे। टुनिया बाज़ार से लकड़ी लायेगी, टुनिया पौधों में पानी देगी, टुनिया मम्मी को दवाई देगी, टुनिया बाहर सूख रहे कपड़े उठावेगी, टुनिया दस बार दरवाज़ा खोलेगी, दस बार दरवाज़ा बन्द करेगी। अगर पड़ोसिन आण्टी से पन्द्रह दिन पहले दी गयी कटोरी माँगनी है तो टुनिया ही जायेगी। वही इतनी बहादुर है जो जाकर सीधे-सीधे कह दे, ''आण्टी, वह कटोरी दे दीजिए, वही जिसमें हम सरसों का साग दे गये थे आपको।''

अचानक मेहमान आ जायें तो बर्फ माँगने केरावाला मेमसाहब के पास टुनिया ही जायेगी। और किसकी मजाल जो उस बदमिज़ाज औरत को पटाकर उसके फ्रिज से बर्फ निकलवा सके।

टुनिया है तो तेरह की, पर लगती है ग्यारह की। न उसे दूध पीना अच्छा लगता है, न अण्डा खाना। हल्का-फुल्का बदन है उसका। कमर इतनी छोटी कि स्कूल यूनिफॉर्म का स्कर्ट खिसका पड़ता है। जरा भागे तो ब्लाउज़ स्कर्ट के बाहर। इसीलिए टुनिया को बेल्ट लगानी पड़ती है या फिर स्कर्ट में तीन-तीन जगह हुक फँसाने के लिए लूप। स्कूल जाने के लिए तो बाकायदा तैयार होना ही पड़ता है, टाई भी लगानी पड़ती है, जूते भी चमाचम चाहिए। पर वैसे टुनिया को ढंग से कपड़े पहनने का धीरज कहाँ? जो हाथ आया गले में डाल लिया। घर में सभी के बाल कटे हुए हैं मम्मी के, दीदी के। यहाँ तक कि कोलीन के भी। कोलीन सुबह-शाम आती है, डस्टिंग करती है, कपड़े इस्तरी करती है और रसोई में खाना बनाने के पूर्व की तैयारी। खाना उससे नहीं बनवाया जाता। मम्मी कहती हैं वह पकायेगी तो छूत लग जायेगी।

टुनिया की यह ज़रा भी समझ नहीं आता कि यह छूत कैसे लगती है? जैसे कोलीन आटा गूँधे, सब्जी काट दे तो ठीक, लेकिन वही यदि सब्जी छोंक दे तो छूत, वही आटा अगर सेंक दे तो छूत। कोलीन है बड़ी फैशनेबल। नाक भी सिकोड़ते हुए बता चुकी है कि अगर उसके बाप को दारू का इतना लालच न होता तो वह कभी काम करने न निकलती, वह भी घर-घर।

कोलीन तीन घरों में जाती है। कोलीन इतना पाउडर लगाती है कि पड़ोस के देवराज ने उसका नाम 'पाउडर एण्ड कम्पनी' रख छोड़ा है। कोलीन ऊँची सी फ्रॉक पहनती है और ऊँची सेण्डिल। उसका शरीर भी कई कोण से ऊँचा-ऊँचा लगता है। हर इतवार यह चर्च जाती है और हर शनिवार, पिक्चर। कभी उसके बालों में नया क्लिप होता है, कभी स्कर्ट की जेब में नया रूमाल। बगलवालों की आया मेरी जब पूछती है, 'कहाँ से लिया?' तो कोलीन आँख मटकाकर कहती है, 'हमारा बॉयफ्रेण्ड दिया....।'

टुनिया को कोलीन पसन्द नहीं है। उसे लगता है कि कोलीन अच्छी लड़की नहीं है। जिन बातों पर टुनिया को गुस्सा आता है उन पर कोलीन खिलखिलाकर हँस पड़ती है। हर समय मस्ती-सी चढ़ी रहती है उस पर। फैशन और पिक्चर के सिवा उसे कुछ नहीं सूझता। वह बाकायदा एक्टिंग करके पिक्चर की कहानी सुनाती है, भले ही कोई सुने, चाहे न सुने। उसका इस तरह मटकना टुनिया को नापसन्द है। वह कई बार मम्मी से कह चुकी है, ''इसकी छुट्टी क्यों नहीं कर देती?'' पर मम्मी हर बार एक ही सुर

पर बात खत्म करती है, ''टुन्नो, तू तो सुबह तैयार होकर चल देती है स्कूल। बेबी को टाइम नहीं मिलता। रह गयी मैं। तो भई साफ बात है, मुझसे इतना काम होता नहीं। कोलीन भी मदद न करे तो मैं मर जाऊँ।''

मम्मी मरने-जीने के सवाल न जाने कहाँ से ले आती हैं बात-बात पर। अभी जब जबलपुर से माधुरी आण्टी आयी थीं और छुट्टियों में टुनिया को साथ ले जाना चाहती थीं, मम्मी ने कहा, ''न बाबा न। टुनिया को मैं नहीं भेज सकती। एक तो कोलीन छुट्टी पर गयी हुई है, ऊपर से तू इसे ले जायेगी। मुझसे नहीं होता इतना सारा काम। मैं तो जीते-जी मर जाऊँगी।''

माधुरी आण्टी अकेली वापस चली गयी थीं, हालाँकि टुनिया मन-ही-मन बहुत तरसी थी साथ जाने के लिए। कैसा होगा जबलपुर, उसने मन-ही-मन सोचा था। अपनी किताब में उसने भेड़ाघाट के बारे में पढ़ा था। वह वहाँ जाकर मिलान करना चाहती थी कि किताबें कितना सच बोलती हैं। पर मम्मी को वह कैसे मर जाने दे।

मम्मी की खातिर तो वह सारा दिन भागती है। कई ऐसे भी काम करती है जो उसे कतई पसन्द नहीं, मसलन पाल साहब के यहाँ जाकर पापा को फोन करना, नल बन्द होने पर निचली मंज़िल पर डॉ. जगतिवानी के घर से पानी लाना, बाजार से काँदा-बटाटा खरीदना और सामान मम्मी को पसन्द न आने पर उसे वापस करने दुकान पर जाना। मम्मी उससे दुनियाभर का सामान मँगायेंगी, फिर उसमें मीन-मेख निकालेंगी, ''साबुन में तू दस पैसा ज्यादा दे आयी है, इसे लेकर वापस बोहरा के पास जा और कह हमें नहीं लेना साबुन। लूट मची है क्या, जो दाम मन में आया, ले लिया। टुन्नो इतनी बड़ी हो गयी तू, अभी तक अदरक खरीदने की अक्ल नहीं आयी। यह एकदम दो कौड़ी की अदरक है, गट्ठेवाली। अदरक तो एकदम बादाम जैसी आ रही है आजकल।''

अब टुनिया क्या जाने अदरक बादाम जैसी कैसी होती है? उसे तो अदरक एकदम नीरस चीज लगती है, खाने में भी और देखने में भी। एक बार खरीदकर वापस करना क्या इतना आसान होता है। पसीना आ जाता है। कार्टून अलग बनता है।

छुट्टीवाले दिन एक दोपहर घर में पानी एकदम खत्म था। मम्मी ने झट कह दिया, ''टुनिया एक छोटी बाल्टी पानी नीचे से ले आ, कम-से-कम चाय तो बने।''

डॉ. जगतियानी के यहाँ नल के साथ-साथ हेण्डपम्प भी लगा है। निचली मंजिल होने की वजह से उनके यहाँ पानी हर वक्त आता है। डॉ. और मिसेज जगतियानी दोनों सुबह अपने क्लीनिक पर जाते हैं। दोपहर ढाई-तीन तक लौटते हैं। लौटकर खाने के बाद वे सो जाते हैं एयर कंडीशनर चलाकर। उनके घर की पूरी देखभाल उनका नौकर रामजी करता है। वही फोन सुनता है, कॉलबेल बजने पर दरवाजा खोलता है, कार साफ करता है और खाना बनाता है। सारी शाम जब डॉक्टर साहब और मिसेज जगतियानी क्लीनिक पर होते हैं रामजी टी. वी. देखता है। यह उसका रोज का काम है। टी. वी. को वह टी. बी. कहता है। एक-एक एनाउंसर को वह पहचानता है। उसने सबको नाम दे रखे हैं, 'फर्स्ट क्लास', 'सेकण्ड क्लास', 'चलेगा' और 'खटारा'।

उस दिन टुनिया पीतल की छोटी बाल्टी लेकर नीचे पहुँची तो डॉक्टर साहब का पिछला दरवाज़ा खुला था। टुनिया सीधे अन्दर पहुँच गयी। नल खोलकर देखा, पानी नहीं था। फिर उसने हैण्डपम्प चलाया। वह भी सूखा पड़ा था। तभी रामजी रसोई में से निकलकर आया, ''आज पानी नहीं है, सब खलास।''

टुनिया ने एक बार और नल खोलने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि रामजी ने अपने पाजामे की ओर इशारा किया, और अश्लील ढंग से मुस्कराकर कहा, ''लो इससे भर लो।''

टुनिया कुछ समझ नहीं पायी, पर जो कुछ उसने देखा उससे घबरा कर वह दहशत से चीखती भाग खड़ी हुई। बाल्टी वापस उठाने का किसे होश था।

बेतहाशा भागती टुनिया तीसरी मंज़िल पर घर में घुसी कि मम्मी की घुड़की पड़ी, ''पानी नहीं लायी न, अब पीना शाम की चाय। काम तो कोई करना ही नहीं चाहता आजकल। एक कोलीन है, उसे कुछ कहो तो वह मुँह बनाती है। एक तू है, तेरे अलग नखरे। जो करूँ, मैं करूँ,

जहाँ मरूँ, मैं मरूँ।'' टुनिया का मन इस वक्त इतना घिना और घबरा रहा था कि वह क्या न कर दे, पर माँ की भुन-भुन सुनकर भन्ना गयी। ये मम्मी हैं, इन्हें क्या फ्रिक, टुनिया पानी क्यों नहीं लायी? इनका तो बस काम होना चाहिए नहीं तो ये मरने को तैयार बैठी हैं।

''और बाल्टी कहाँ फेंक आयी, बोल तो सही मुँह से? हद हो गयी ढीठपने की। खाली बाल्टी उठाकर लाने में इसकी कलाई मुड़ती है। एक हम थे। हमारी माँ जरा इशारा कर दें, हम सिर के बल उलटे खड़े रहते थे।''

बस शुरू हो गया ये और इनका जमाना। अब यह रिकॉर्ड जल्दी नहीं रुकने का। लकड़ी काटने से लेकर सिर काटने तक के अपने तजुर्बे सुनाये जायेंगे। नानी के सिरहाने लहराता साँप मम्मी ने कुचला था, लोहेवाली की सोने की तगड़ी का पता मम्मी ने लगाया था, चोर को सेंध लगाते सबसे पहले मम्मी ने देखा था। नानी की बीमारी में उन्हें कैसे संभाला था... कैसे बताये टुनिया यह सब करना आसान है, बनिस्पत वापस नीचे जाने के, अपनी आँखों वह गन्दी चीज देखने के, महज एक बाली की खातिर।

दीदी के साथ तो ऐसा नहीं करती मम्मी। दीदी उनका एक भी काम नहीं करती, फिर भी उसके सामने मम्मी कभी शिकायत नहीं करती। यह तो कांदा बटाटा लेने बाजार नहीं जाती, उसे पानी लेने डॉ. जगतियानी के यहाँ नहीं भेजा जाता, बिजली का बिल जमा करने की कतार में दीदी तो कभी नहीं लगी। दीदी सुबह आठ बजे सोकर उठती हैं। उठते ही हुक्म चलाने लगती हैं, ''कोलीन मेरे नहाने का पानी गरम करो। मम्मी आलू का टोस्ट बना दो। टुनिया इस कुर्ते के साथ का दुपट्टा ढूँढ़ दो।''

दीदी नहाने चली जाती है और घर-भर उसके कॉलेज जाने के काम में इस कदर व्यस्त हो जाता है जैसे दीदी लाम पर जा रही हो। मम्मी गेट तक उसे घड़ी और रूमाल पकड़ाने भागती हैं। दीदी थैंक्यू भी नहीं कहती। बस, एक महारानी नज़र सब पर डाल शान से चल देती हैं। अकेली कॉलेज जाती है, पर यों लगता है मानो चार अर्दली आगे, चार पीछे चल रहे हैं। किस शान से दीदी सड़क क्रॉस करती है, आती-जाती टैक्सियाँ, कारों को चुनौती देती। किसी की मजाल जो दीदी से पूछे, 'क्यों जी, यह सड़क क्या आपके पापा ने बनवायी है? यह पैदल पारपथ क्या बटेरों के लिए छोड़ रखा है?'

टुनिया को पता है जब दीदी कॉलेज के लिए निकलती है, कॉलोनी के आधा दर्जन लड़के भी तभी अपने-अपने घर से निकलते हैं। वे इधर-उधर छा जाते हैं, कोई पुलिया के पास, कोई चौराहे पर, कोई बस स्टॉप पर। दीदी इन सबकी हीरोइन है। किसी ने दीदी को कॉलेज के स्टेज पर नृत्य करते देख लिया है, बस गुडुप। किसी ने दीदी को डिबेट में बोलते सुना है, धराशायी। कोई दीदी की चाल का दीवाना है, कोई दीदी के बालों का। बच्चू सीने पर हाथ रखकर गाता है, 'उड़-उड़ के कहेगी खाक सनम...।' आबू दो साल से एल. एल. बी. में फैल हो रहा है। दीदी किसी की ओर नहीं देखती। गर्दन को एक गुमान भरा झटका दे वह बस स्टॉप पर ऐसे खड़ी हो जाती है, जैसे बकिंघम पैलेस की बग्घी उसके लिए आने वाली हो।

एक दिन तो आ भी गयी थी—प्रिन्स राजगढ़ की गाड़ी। दीदी बस स्टॉप पर खड़ी थी कि चॉकलेट रंग की कार झटके से आकर सामने खड़ी हो गयी। प्रिन्स खुद ड्राइव कर रहे थे। निहायत शालीनता से बोले, ''मिस सहाय, मैं भी कॉलेज जा रहा हूँ, मे आय हेव द प्लेज़र टु ड्रॉप यू!''

दीदी ने एक नज़र उसे देखा और कहा, ''सॉरी, मैं नहीं जानती आप कौन हैं?''

प्रिन्स सिर झुकाकर चला गया। वह कॉलेज नहीं गया। वह इतना तिलमिला गया, उसने उसी दिन न सिर्फ कॉलेज, वरन् शहर भी छोड़ दिया।

बहुत नाज़ है टुनिया को अपनी बहन पर। दीदी टुनिया से चाहे जो काम ले ले, टुनिया कर देगी। वह दीदी के नाखून काटती है। रूमाल धोती है, बाल कंघी करती है, कमरा ठीक करती है। उस दिन टुनिया बहुत थकी थी। बाज़ार के पाँच चक्कर लगाने पड़े थे। दीदी को भी बाज़ार का ही एक काम था। उसे दर्ज़ी से मैक्सी मँगवानी थी। दीदी ने अपने बालों से मोतियों के फूलों का छोटा गुच्छा निकालकर टुनिया को पकड़ा दिया। खुशी के मारे टुनिया सारी थकान भूल गयी। फूलों को निहारते-निहारते वह दर्जी की दुकान

तक चली गयी और मैक्सी ले आयी। पैर बहुत दुखे, पर फूल कितना सुन्दर था।

कई बार दीदी टुनिया के हाथ में अपनी फिलॉसफी की किताब थमा कर लेट जाती है। पढ़ाई करने का दीदी का यह प्रिय तरीका है। टुनिया काण्ट, हीगल से लेकर अद्वैतवाद तक सब पढ़कर सुनाती है। बहुत कुशाग्र बुद्धि है दीदी। एक बार का सुना ज्यों-का-त्यों याद हो जाता है उसे। इसी तरह दीदी ड्रामे का पार्ट याद करती है। दीदी के साथ-साथ टुनिया को भी याद हो जाते हैं संवाद। माँ ने कहा, ''चले गये, सब-के-सब चले गये। छह-छह बेटे पैदा किये, छहों चले गये। अब जाकर मैं सोऊँगी, चैन से सोऊँगी। जिस दिन से ब्याही आयी, एक दिन भी नहीं सोयी। कभी किसी के लिए, कभी किसी के लिए, जीवन प्रार्थना में बीता। आज इसकी पूजा, कल उसका उपवास। अब सब चले गये। लाख तूफान आयें, अब मेरा क्या बिगाड़ लेंगे। सागर से मुझे क्या लेना और क्या देना? भले ही घर में अब भोजन के नाम पर सिर्फ एक सूखी, सड़ी मछली हो, मुझे क्या चिन्ता, किसकी फिक्र! मैं पैर फैलाकर सोऊँगी, भर नींद सोऊँगी।''

जे. एम. सिन्ज के इस नाटक में दीदी गज़ब अभिनय करती है। हॉल में बैठे एक-एक दर्शक की आँखें डबडबाई होती हैं। टुनिया ने खुद देखा है। दीदी की खासियत यही है। चाहे उसे दिलबहार बेगम बना दो, चाहे बूढ़ी अम्मा, पात्र को जीता-जागता खड़ा कर देती है सामने। तभी तो अपने आगे निर्देशक को कुछ समझती नहीं। 'इंग्लिश एसोसिएशन' के नाटक 'एण्टनी एण्ड क्लियोपेट्रा' का निर्देशक वह कुर्गी लड़का है जिमी। दीदी उसका कोई कहना नहीं मानती। दीदी कहती है—'वह अपनी मर्ज़ी के अनुसार क्लियोपेट्रा के संवाद बोलेगी।' प्रोफेसर ने हारकर कह दिया, 'शी इज ए बॉर्न क्लियोपेट्रा। लैट हर हैण्डिल द कैरेक्टर।' कॉलेज के वार्षिकोत्सव में दीदी का जय-जयकार होता रहता है। मुख्य अतिथि एक के बाद एक दस पुरस्कार दीदी को देते हैं। अधिकतम अंक पाने पर अंग्रेजी, हिन्दी, फिलॉसफी और लैंग्वेज का प्रमाण-पत्र तो मिलता ही है। साथ ही गायन, नृत्य और अभिनय का भी। एक पुरस्कार व्यक्तित्व के लिए, एक वक्तृता के लिए।

टेबल टेनिस शील्ड दीदी की वजह से जीती गयी, उसका भी विशेष पुरस्कार मिलता है। बार-बार अपनी सीट से मंच तक जाना दीदी की शान के खिलाफ है। दीदी वहीं खड़ी हैं विंग्स में, एक भक्त छात्र को अपने पुरस्कार पकड़ाती हुई। वहीं से निकलकर वह मुख्य अतिथि से पुरस्कार ग्रहण करती और वहीं खड़ी हो जाती हैं। हॉल में सब बड़े रश्क से उसका नाम सुन रहे हैं। उसके दीदार का इन्तज़ार कर रहे हैं। पर दीदी को कोई जल्दी नहीं। मंच पर जाते समय वह घबराती भी नहीं।

पुरस्कार टुनिया को भी मिलते हैं अपने स्कूल में। पर वह तो इस कदर हड़बड़ा जाती है कि प्राचार्या तक पहुँचना मुश्किल हो जाता है। घबराहट में मुँह से कभी 'थैंक्यू' पहले निकल ही नहीं पाता, जुबान तालू से चिपक कर सूख जाती है, हाथ थर-थर काँपते हैं। वही रोज़ के चेहरे होते हैं फिर भी टुनिया कितना घबरा जाती है। दीदी विल्कुल नहीं घबराती, एकदम बाहरी आदमी है मुख्य अतिथि। पर दीदी कुछ इस अन्दाज में उसके हाथों से पुरस्कार लेती है मानो ले नहीं, दे रही है।

टुनिया भी बैठी है ताली बजाने वालों में। जितनी बार दीदी का नाम बुलाया जाता है, टुनिया को लगता है उसका कद ऊँचा होता जा रहा है। उसकी इच्छा होती है अपनी सीट पर खड़ी हो जाय और ज़ोर-ज़ोर से ताली पीटे। उसका दिमाग उसे तसल्ली और तमीज सिखाता है।

जलसे के बाद टुनिया दीदी के साथ घर लौट रही थी। कॉलेज से बस स्टॉप कुछ दूरी पर था। कुछ इनाम दीदी ने पकड़े थे, कुछ टुनिया ने।

टुनिया को लग रहा था, ये उसी ने जीते हैं। आखिर वही तो दीदी को संवाद याद कराती है नाटकों के, वही दीदी को फिलॉसफी, हिन्दी और अंग्रेजी के लैसन सुनाती है।

बार-बार रास्ते में कभी कोई, कभी कोई दीदी को मुबारकबाद दे रहा था। तभी चार लड़कों के एक झुण्ड ने आकर दीदी को बधाई दी। फिर उनमें से एक नाटे से लड़के ने कहा, ''मिस सहाय, हम लोगों में एक शर्त लगी है। राज कक्कड़ का कहना है यह लड़की जो आपके साथ है, आपकी बहन है। मेरा कहना है ऐसा हो ही नहीं सकता। बकवास

करना राज की पुरानी आदत है, लेकिन मैं आपकी शान के खिलाफ इसे बोलने थोड़े ही दूँगा। आप असलियत बता दीजिए। लोगों में आइसक्रीम की शर्त लगी है।''

दीदी ने निहायत लापरवाही से कहा, ''मेरी बहन है यह, तूर्णा सहाय।''

लड़कों के मुँह अवाक् रह गये। उन्होंने टकटकी लगाकर टुनिया को जाँचा, जैसे चिड़ियाघर में बच्चे जेब्रा को देख रहे हों।

राज कक्कड़ ने विजेता अन्दाज़ में बाँहें चढ़ा लीं, ''देखा न, मेरी खबर गलत नहीं हो सकती है। है न धमाका?''

नाटे लड़के ने हताश स्वर में कहा, ''ये आपकी सगी बहन है मिस सहाय?''

''हाँ, बाबा हाँ,'' दीदी ने हँसते-हँसते कहा।

''एक ही माँ की।''

''हाँ और एक ही पिता की भी।'' दीदी ने अपनी तरफ से मज़ाक मारा, जिस पर सब हो-हो कर हँस पडे।

टुनिया को पहली बार रोना-सा आया। कितने बेहूदा लड़के हैं। कैसे भद्दे मज़ाक करते हैं। यह क्या शर्त लगाने की बात है? कितनी बार वह दीदी के साथ कॉलेज आ चुकी है। बहन नहीं तो क्या चपरासिन है?

घर जाकर टुनिया ने किसी से कुछ न कहा, पर रुलाई एक अन्धड़ की तरह मन में घुमड़ रही थी। किसी को उसकी ओर देखने का अवकाश ही कहाँ था। कोई दीदी की पीठ ठोक रहा था, कोई उनका मुँह चूम रहा था। पापा ने दीदी से सगर्व कहा, ''यू आर माय ब्रेनी डॉटर, शाबाश।''

टुनिया को मम्मी ने तत्काल भेज दिया बाज़ार लड्डू लाने। पड़ोस के घरों में लड्डू बँटेंगे, दीदी इनाम जो लायी है। सबके बच्चे उसी कॉलेज में पढ़ते हैं, पर है कोई जो इतने इनाम पाये।

टुनिया घण्टों घर-घर घूमती फिरी, सात नम्बर, आठ नम्बर, नौ नम्बर। कैरावाला, जगतियानी, द्विवेदी, आलम खान। कॉलबेल बजायी, दरवाज़ा खुला, टुनिया ने हाथ जोड़े ''नमस्ते आण्टी हमारी दीदी इस साल फिर हर चीज़ में फर्स्ट आयी है। मम्मी ने मिठाई भेजी है, नमस्ते।''

पापा ने रेडियो पर से टुनिया के स्कूली कप उठाकर ताक पर रख दिये और दीदी के बड़े कप सजा दिये। कमरा जगमगा उठा। नये कप चमकते कितने गज़ब के हैं। अब कल फोटोग्राफर आयेगा। दीदी की फोटो खिंचेगी।

रात जब टुनिया अपने बिस्तर पर लेटी, उसे न जाने कहाँ से अवश रुलाई आ गयी। उसे स्पष्ट नहीं था, वह क्यों रो रही थी पर आँसू थे कि बहे जा रहे थे। लगातार रोने से नींद भी उड़ गयी।

टुनिया दबे पाँव उठकर गुसलखाने में गयी। वहाँ लगे शीशे में उसने अपना चेहरा देखा।

नहीं, इतना बुरा तो नहीं कि बरदाश्त न हो। बाल उसके दीदी से लम्बे और मुलायम हैं। त्वचा भी उसकी चमक रही है। फिर उन लड़कों ने क्यों कहा कि वह दीदी की कोई नहीं। और फिर अगर लड़कों ने बदतमीजी की भी, तो क्या दीदी उन्हें डपट नहीं सकती थी। क्या उसका हाथ अपने हाथ में ले, गर्व से नहीं कह सकती थी—''देखो, यह है मेरी बहन, मेरी अपनी छोटी बहन, तुम्हें दिखायी नहीं देता?''

टुनिया क्या करे कि अपनी दीदी की बहन लगे! क्या गले में पट्टा लटका ले या आटे के बोरे में मुँह घुसा दे या छील डाले अपनी चमड़ी छिलके की तरह!

टुनिया को इसी तिलमिलाहट में याद आयी उस लाल लहँगे की, जिसके कारण उसे कितनी मार पड़ी थी। दीदी को टाउनहॉल में एकल नृत्य प्रतियोगिता में नाचना था। उसके लिए नया लाल लहँगा, ब्लाउज़ और चूनर बनवायी गयी थी। प्रतियोगिता के पूर्व दीदी दोपहर में बाज़ार गयी थी लाल चुटीला और झूमर खरीदने। पीछे से दर्जी ने आकर दीदी की पोशाक दी। नयी लाल पोशाक टुनिया को इस कदर भायी, उससे रहा न गया। उसने चाव ही चाव में अपनी फ्रॉक उतार लहँगा-ओढ़नी पहन ली। बाकायदा सिर ढँककर वह माथे पर टिकुली लगा ही रही थी कि दीदी वापस।

टुनिया को काटो तो खून नहीं। हे भगवान, दीदी ने देख लिया! अब क्या होगा?

दीदी का पारा गरम हो गया—''तूने मेरी पोशाक क्यों खराब की? बता, क्यों?'' दीदी ने उसे झंझोड़ डाला।

''दीदी खराब नहीं की, लो, मैं उतार देती हूँ।''

दीदी रोने बैठ गयी, ''ऊँ ऊँ ऊँ, मैं अब यह पोशाक नहीं पहनूँगी। यह गन्दी हो गयी।''

मम्मी ने दीदी से कुछ नहीं कहा। बस, टुनिया की धुनाई कर डाली, जिसके कारण दीदी की पोशाक गन्दी हो गयी।

टुनिया हफ्तों सोचती रह गयी, क्या पोशाक इतनी जल्द, इतनी गन्दी हो गयी कि दीदी का डांस बिगड़ गया, उसे पुरस्कार नहीं मिला और घर लौटते समय उसकी एक पायल भी खो गयी?

तब से टुनिया ने गाँठ बाँधी, दीदी का कोई कपड़ा नहीं छूना है। रूमाल भी नहीं। दीदी को दुखी नहीं करना है।

रात-भर की छटपटाहट के बाद टुनिया ने तय किया लड़कों की खुराफात पर कतई ध्यान नहीं देगी। वह अपना पूरा ध्यान पढ़ने में लगाएगी। दीदी के कॉलेज अब कभी नहीं जायेगी। मम्मी कहेंगी, तब भी नहीं।

स्कूल में टुनिया का दिन बहुत अच्छा बीता। इंग्लिश में 'वेरी गुड' मिला, ड्रॉइंग में 'गुड'। खुशी के मारे बाकी पीरियड भी खटाखट बीत गये। जब आया गणित का पीरियड, होडीवाला सर की क्लास। लड़के-लड़कियों को सबसे ज्यादा सज़ा इसी क्लास में मिलती है। लड़कों की भी जबरदस्त केनिंग होती है। लम्बी लचीली टहनी होडीवाला सर के क्लास का दौरा कर डालती है। सनाक-सनाक हथेलियों पर केन लेते लड़के रोते नहीं, पर उनके होंठ भिंच जाते हैं। टुनिया के बदन में फुरफुरी आती है जितनी बार यह आवाज़ सुनती है वह 'सनाक-सनाक।'

लड़कियों को मार नहीं पड़ती। उन्हें स्कूल के बाद रुकने और पाठ लिखने की सज़ा मिलती है 'डिटेन्शन'। क्या तुक है इसमें, सवाल गलत हुआ गणित का और सजा में मिल गया 'आर ह्यूमन स्ट्रक्चर' को नौ बार लिखना। टुनिया को कभी यह सज़ा नहीं मिली। लेकिन जिन्हें मिलती है वे भी तो उसकी सहेलियाँ हैं, उसे पता है, लिखते-लिखते उनकी बिचली उँगली नीली पड़ जाती है।

टुनिया के सवाल कभी गलत नहीं होते, पर उसे सर का रवैया पसन्द नहीं, जिस समय छात्र सवाल कर रहे होते हैं, होडीवाला सर खिड़की पर पीठ टिका गिद्ध दृष्टि से सबको देखते रहते हैं—'नो चीटिंग'। लड़कों से निपटकर वे लड़कियों के पास आते हैं—'लेट मी सी मिसी बाबा, वॉट हैव यू डन।' कहते हुए वे प्रत्येक मिसी बाबा का सवाल जाँचते हैं। जितनी देर वे सवाल देखते हैं, उनका एक हाथ लड़की की पीठ पर बराबर चलता रहता है, कन्धे से लेकर कमर तक के हिस्से पर। हृष्ट-पुष्ट, गुलगुली लड़कियों पर वे विशेष मेहरबान रहते हैं, पर लड़कियाँ उनसे कतराती हैं। बड़ी लड़कियाँ आपस में इस बात पर भुनभुनाती हैं, पर डर के मारे कोई जुबान नहीं खोलती।

टुनिया के प्रायः सभी सवाल ठीक होते हैं। शायद इसीलिए सर उसके पास कभी नहीं फटकते, जल्दी से 'राइट' लगाकर आगे बढ़ जाते हैं। दो-चार बार टुनिया ने वे सवाल भी हल कर दिखाये हैं जो सर नहीं कर पा रहे थे। होडीवाला सर सिर्फ एस. टी. सी. तक पढ़े हैं। छात्र उनकी डिग्री को कहते हैं—सण्डास टिकट कलेक्टर। सण्डास जाने का टिकट कहाँ लगता है, उन्हीं से पूछने की बात है।

शनिवार को पापा ने सुबह बैठक साफ करवायी। उनकी बैठक बस टुनिया साफ कर सकती है। कोलीन को तो ज़रा भी तमीज नहीं। ज़रूरी से ज़रूरी कागज़ रद्दी समझ, कूड़े में बटोरकर फेंक देगी। टुनिया जानती है, कागज़ पापा की जान है। एक-एक चिट्ठी, एक-एक अखबार क्यों रखा हुआ है, उसे पता है। मम्मी तो उकता जाती हैं इस सफाई-अभियान से। उनका कहना है जितनी देर में पूरे घर की सफाई हो उतनी देर में केवल यह बैठक साफ होती है। एक-एक पेपरवेट को चमकाना, पोंछना, पिन कुशन में पिन खोंसना, किताबें करीने से रैक में सजाना, इस सबकी उन्हें फुर्सत कहाँ? पर टुनिया बोर नहीं होती। वह इस काम को झाड़ू और झाड़न की जुगलबन्दी कहती है।

फर्श पर बिछे बिस्तर की चादर बदली गयी। किताबें ठीक से लगायी गयीं। रेडियो का कवर और मेजपोश भी धुले हुए बिछाये गये। एक बहुत बड़े साहित्यकार आनेवाले थे। टुनिया ने पूछा, ''पापा, क्या इनका पैर उससे भी बड़ा होगा जो पिछली बार आये थे?''

''फिजूल बात मत करो।'' पापा ने घुड़क दिया।

पिछली बार भी उनके घर एक बड़े साहित्यकार आये थे। उनके पैर की छाप चादर पर पड़ गयी थी। सफेद चादर के बीच वह मटमैली छाप बड़ी अजीब लग रही थी। बाप रे बाप, टुनिया ने सोचा था, इतना बड़ा पैर। उसके तो दो-तीन पंजे निकल आयें इसमें से। उसने तभी सोचा था कि बड़े साहित्यकार का न केवल दिमाग वरन् पैर भी बड़ा होता है।

पर पापा को कोई खुराफात बरदाश्त नहीं है। घर में सब स्वच्छ होना चाहिए। कायदे से कमरे में आओ, नमस्ते करो, चाय रखो और चले जाओ। अगर कमरे में कविता-पाठ चल रहा हो या गम्भीर बातचीत, कभी टोको नहीं। सुनना चाहती हो तो चुपचाप बैठ जाओ।

टुनिया किताबों की दुनिया से अनजान नहीं। किताबें उसे बेहद प्रिय हैं। यह कुछ भी और सब कुछ पढ़ डालती है, जो सामने आ जायें। यह जो साहित्यकार आने वाले हैं, श्री मुक्तिदूत, इनका उपन्यास भी उसने पढ़ा है। उसके मन में उन्हें देखने की उत्कट अभिलाषा है। टुनिया जानना चाहती है वे दूसरे के मन की बात इतनी आसानी से और इतनी अच्छी तरह से कैसे समझ लेते हैं, क्या उनके पास डॉक्टर की तरह कोई स्टेथोस्कोप होता है।

एक और बात, जो टुनिया की समझ में नहीं आती, वह यह है कि कोई साहित्यकार तो पचास पुस्तकें लिखने के बाद भी बड़ा साहित्यकार नहीं माना जाता और कोई महज़ एक पुस्तक लिखकर महान हो जाता है। पापा थोड़ा-बहुत समझाते हैं, फिर अपना शाश्वत वाक्य बोल देते हैं ''अभी तू बहुत छोटी है।''

इतनी छोटी नहीं है टुनिया। दिल-दिमाग हज़ार-हज़ार सवालों से भरा पड़ा है। क्यों-क्यों-क्यों? उसके घर अधिकतर कलाकार और साहित्यकार आते हैं। यहाँ आनेवाले तरह-तरह के लोग हैं, एक बार एक कलाकार आये थे। जेब में तीन सौ रुपये और बेशुमार उम्मीदें लिये। वे फिल्मों में संघर्ष करना चाहते थे। शक्ल से कितने भोले लगते थे। उनके घर महीनों रहे थे, इसी बैठक में। रोज सुबह झोला कन्धे पर डाल निकल जाते, स्टूडियो दर स्टूडियो, दरबानों से गिड़गिड़ाते। रात को थकान से लस्त और हौसले से पस्त लौटते, पापा उन्हें अपने साथ खाना खिलाते और देर तक उनकी हिम्मत बँधाते।

अगली सुबह वे फिर निकल पड़ते। साढ़े तीन महीने की दौड़-धूप के बाद उन्हें एक फिल्म में भूमिका मिली, बस स्टॉप पर खड़े एक गुण्डे की, जो चाकू दिखाकर लोगों की जेब खाली कराता है और फिर चाकू चूमकर विचित्र अट्टहास करता है, 'हा हा हा हा!' घर में वे चाकू चूमने और अट्टहास करने की रिहर्सल करते तो टुनिया कमरे से हट जाती। न जाने क्यों उसे लगता यह भूमिका उस कलाकार की तौहीन थी। उसके बाद सभी फिल्मों में वे गुण्डे बने। दो ही साल में वे फिल्म उद्योग के नामी विलेन हो गये, उन्होंने जुहू पर फ्लैट खरीद लिया, कार खरीद ली, शादी कर ली, और पापा को पहचानने से इन्कार कर दिया।

पापा को कोई खास फर्क नहीं पड़ा। न वे आहत हुए, न अपमानित। उन्होंने कुछ और साथी ढूँढ़ लिये। पर मम्मी किचकिचाती रहीं, ''जब तक दो रोटी का ठिकाना नहीं था, फलानेजी गले से बँधे रहे। आज रोटी-बोटी दोनों का इन्तजाम हो गया तो कैसे आँखें फेर लीं। जाने इन्हें अकल कब आयेगी? अरे, अब तो यह सदाव्रत बन्द करो। आज की दुनिया में कोई किसी का नहीं। क्या मिला तुम्हें मर-मर कर?'

पापा ने एक बार भी शिकायत नहीं की। न जाने कितने लोगों को पाँच रुपये से लेकर पचास रुपये तक उधार दिये जो डूब गये। वर्षों मम्मी ने घर खर्च के रजिस्टर में इसे उचंत में डाले रखा, फिर हारकर लिखना छोड़ दिया। पापा ने कहा, ''इसमें क्या झींकना, सारा जीवन ही एक लेन-देन है।''

मम्मी बोलीं, ''तुम्हारा तो सारा जीवन बस लेन-देन है।''

मम्मी को गुस्सा बहुत जल्दी आता है। अच्छी बातों में भी वे न जाने कहाँ से आपत्ति ढूँढ़ निकालती हैं। इक्कीस नम्बर में नये किरायेदार आये थे मिस्टर पै। उस दिन उनकी लड़की विनया सामने के लॉन में दो-तीन लड़कियों के साथ खेल रही थी। टुनिया भी पहुँच गयी। सबने मिलकर रस्सी कूदी, आइ स्पाइ खेला। वापस जैसे ही टुनिया घर आयी, माँ ने जवाब-तलब किया, ''किससे पूछकर गयी थी?''

''कपड़े क्यों नहीं बदले? बाकी लड़कियों के कपड़े देखे थे। एकदम परी-जैसी लग रही थीं!''

''हमारी नाक कटायेगी।''

लो, हो गयी न सारी शाम गुड़गोबर। माँ की डाँट बरदाश्त नहीं होती और माँ ही सबसे ज्यादा डाँटती हैं। डाँटने के बाद रोने या सुस्त पड़ने का भी अवकाश नहीं देतीं। खुद अपनी तबीयत खराब कर बैठ जाती हैं।

फिर शुरू हो जाता है पापा की नसीहतों का सिलसिला, ''कितनी बार कहा है टुन्नो, मम्मी को गुस्सा न करने दिया करो, इनका ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है।''

''तुम्हें ज़रा ख्याल नहीं मम्मी का, टुनिया। चलो, इन्हें पानी में ग्लूकोज पिलाओ।

''शाम को डॉ. गांगुली के पास ले जाना मम्मी को।''

डॉक्टर मम्मी का ब्लडप्रेशर देखता है, दवा देता है। टुनिया जबर्दस्त पश्चात्ताप से भर जाती है। डाँट भी उसे ही पड़ती है, अफसोस भी उसे ही होता है, डॉक्टर के भी वही जाती है, 'सॉरी' भी वही कहती है। किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। कोई टुनिया को इस सवाल का जवाब नहीं देता कि ब्लडप्रेशर किसका जाँचा जाना चाहिए, जिसने डाँटा उसका, या जिसे डाँट पड़ी, उसका?

इन झमेलों से बिल्कुल अलग-अलग दीदी एक अलग दिशा में दौड़ रही है। लगभग रोज़ शाम कोई न कोई शो चलता रहता है। शो के बाद दीदी घर आती है। मेकअप उतार, कपड़े बदल यह आँख बन्द कर लेट जाती है बिस्तर पर। थोड़ी-थोड़ी देर में पापा या मम्मी आकर उसे देख जाते हैं। जब उसकी आँख लग जाती है तो हौले से बत्ती बन्द करते हुए पापा कहते हैं, ''बहुत स्ट्रेस पड़ रहा है बेबी पर। इसे रोजाना एक सेब दिया करो।''

हर बात दीदी से बाँटना चाहती है टुनिया। कल टुनिया ने उसे बताया कितने बड़े साहित्यकार आनेवाले हैं आज। दीदी ने कहा था, ''हाय, मैं भी सुनती उनकी बातें, पर क्या करूँ, कल से तो नयी रिहर्सल शुरू है। मेन रोल मेरा ही है।''

पापा सुबह से बड़े जोश में हैं। मुक्तिदूतजी के उपन्यास और काव्य-संग्रह का फिर से पारायण हो रहा है। जगह-जगह लाल पेन्सिल से निशान लगाया जा रहा है, मुक्तिदूतजी से जमकर बहस करनी है। टुनिया भी साथ-साथ पढ़ रही है। इस कमरे का आलम अनोखा है। यहाँ बैठकर मन किताबों में रम जाता है। न समय का ध्यान रहता है, न काम का।

तभी मम्मी ने आकर कहा, ''टुनिया, चलो सनीचरी से सामान लाने।''

टुनिया का जोश जाम हो गया।

सनीचरी का मतलब है सूखी मछली के गंधाते ढेर, बाज़ार की कचर-पचर, धूप-पसीना, धूल, बौड़म झोले, काँदा-बटाटा, गेहूँ, चावल, मसाले, पातड़भाजी, खट्टा चूका और खटारा रिक्शा। पूरी बम्बई में कहीं रिक्शा नहीं चलता सिवाय इस सनीचरी के। इस रिक्शे से रूह काँपती है टुनिया की।

पहले तो बाज़ार की एक-एक दुकान पर मम्मी को मोल-भाव करते देखो, बोलो कुछ नहीं। बस, झोले पकड़े खड़ी रहो, फिर जब मम्मी की तसल्ली हो जाय तो सौदा ले लो। बराबर टकटकी लगाकर तराजू देखती रहो, तरकारीवाली कहीं डण्डी तो नहीं मार रही। इसी चतुराई से मम्मी महीने का पूरा सौदा सनीचरी से लेंगी। फिर बड़े कौशल से ये सस्ता रिक्शा करेंगी। रिक्शा करने में उनकी दो शर्तें अनिवार्य हैं—रिक्शा सस्ता हो और रिक्शेवाला विनम्र। झिक-झिक करनेवालों से मम्मी को बहुत चिढ़ है। रिक्शे में चढ़ते ही मम्मी टमाटर का झोला या तेल की पीपी बगल की सीट पर रख लेंगी और कहेंगी, ''टुनिया, तू यहाँ नीचे बैठ ले। टमाटर कहीं पिच न जायें, तेल कहीं बह न जाये, पीपी में झाल तो लगी नहीं है। थोड़ी ही दूर की बात है।''

अगर टमाटर या तेल कुछ न साथ हुआ तो कॉलोनी की ही कोई और पड़ोसन मम्मी को जरूर दिख पड़ेगी। मम्मी उसे भी रिक्शे में अपने साथ लाद लेंगी और कहेंगी, ''टुन्नो, तू ज़रा किनारे पर टिक जा, यहाँ मेरे पैरों के पास। नहीं-नहीं बहन जी, आप परेशान मत होइए। हमारी बेटी तो बड़ी सीधी है, जहाँ कहो बैठ जाय, जहाँ कहो खड़ी हो जाय। बच्चों का क्या है, जैसे रखो, रह जाते हैं।''

नहीं बैठना चाहती टुनिया इस तरह। कितनी शर्म

आती है उसे। स्कूल की कोई सहेली देख ले या टीचर तो कितनी खिल्ली उड़ेगी उसकी। आठवें में पड़ती है। कोई बच्ची तो नहीं। यह क्या घर की नौकरानी है जो पैरों के पास बैठ! इतना ही शौक है मम्मी को पड़ोसिनें ढोने का तो दो रिक्शे क्यों नहीं ले लेतीं?

टुनिया जब इस तरह बैठती है तो सामने से उसका कच्छा दिखने लगता है। कम-से-कम टुनिया को तो यही लगता है उसका कच्छा दिख रहा है, बल्कि सारी दुनिया को खबर है कि दिख रहा है। शेम, शेम क्या करे टुनिया। फ्रॉक इतनी लम्बी नहीं कि आगे खींच ले। पीछे से मम्मी की चप्पल चुभ रही है, आगे से यह मुसीबत!

बहुत बोर होती है टुनिया इस सनीचरी की कवायद से। ऊपर से गज़ब यह कि मम्मी इसे तफ़रीह का नाम देती हैं। अब अगर घर पहुँच झोले रख टुनिया यह कहे कि वह सत्रह नम्बरवाली पिन्हाज दाजी के यहाँ जा रही है तो मम्मी डपटकर कहेंगी, ''बैठ चुपचाप। अभी घूमकर नहीं तो क्या पापड़ बेलकर आ रही है। घर में तो किसी का टिकुआ लगता ही नहीं है। जो करूँ मैं करूँ, जहाँ मरूँ मैं मरूँ।''

मम्मी एक बार बोलना शुरू कर दें तो देर तक चुप नहीं होतीं। रुक-रुककर उसी विषय पर बोलती हैं। लिफाफे खाली कर दाल डिब्बों में डाली जा रही हैं। भाषण चालू। गेहूँ कनस्तर में पलटा जा रहा है, भाषण चालू है। धीरे-धीरे यह स्वगत कथन में बदल जायेगा। टुनिया मम्मी के पीछे-पीछे कुछ इस तरह घूमेगी मानो दोनों के बीच कोई तार जुड़ा है मम्मी मुड़ेंगी तो वह भी मुड़ेगी, मम्मी झुकेंगी तो वह भी झुकेगी। मम्मी ने चिड़चिड़ाकर एक बार फिर कहा, ''सुनती नहीं है, फिर और धूप चढ़ जायेगी। जल्दी उठ।''

पापा ने किताब पर से नज़र उठायी और बोल पड़े, बमककर, ''क्या तुम सुबह से कुड़-कुड़ शुरू कर देती हो। आटे-दाल के सिवा और कुछ पता भी है। नहीं जायेगी टुनिया। इतने बड़े साहित्यकार आ रहे हैं। किसी भी समय आ सकते हैं। यहाँ कौन बनायेगा चाय? जाना है तो कोलीन को लेकर जाओ।'' एक कटखनी नजर पापा और टुनिया पर डाल मम्मी चली गयीं।

पापा द ग्रेट ! टुनिया को मज़ा आ गया। कैसी बाल-बाल बची वह सनीचरी से और कोलीन क्या खूब फँसी! अभी-अभी काम निपटा वह जाने की तैयारी कर रही थी। तभी तो उसने सबकी नज़र बचाकर फूलदान से एक फूल चोरी किया था बालों में लगाने के लिए। टुनिया को सब पता है। रिक्शे में जब पटरे पर बैठना पड़ेगा, सारी शान झड़ जायेगी आज। वह तो छूटी किसी तरह। अब जब पापा कहेंगे, वह ऐसी फर्स्ट क्लास चाय बनायेगी कि मुक्तिदूतजी भी हैरान रह जायेंगे। दाल पहले से पिसी रखी है, पकौड़े तल देगी।

नहीं, दीदी क्यों करेगी मदद। अभी तो वह सोकर ही नहीं उठी। उठेगी फिर तैयार होगी और तत-थई, तत-थई में लग जायेगी। कल ही तो उसके ड्रामे का पच्चीसवाँ शो खत्म हुआ है। आज नयी रिहर्सल शुरू है।

वक्त से एक घण्टे बाद मुक्तिदूतजी आये—चमत्कार की तरह। एकदम झकाझक सफेद खादी का कुर्ता-पाजामा पहने। आते ही 'हा-हा' हँसना शुरू। पापा बड़े प्रसन्न। मुक्तिदूतजी ने पहले उन्हें अफसरों की दृष्टिहीनता पर एक छोटा सा दिलचस्प भाषण दिया फिर उदाहरण, एक से एक अजीबोगरीब। गनीमत है पापा ने बिना बिदके सुन लिया। नहीं कोई भरोसा नहीं, पापा कब सहसा अफसर बन जायें, कब साहित्यप्रेमी। एक बार ऐसे ही किसी कवि के बेतकल्लुफी से बोलने पर पापा ऐंठ गये थे और उन्होंने त्यौरियों से बोलना शुरू कर दिया। कवि महोदय पापा को एक असफल मनुष्य बता रहे थे, जबकि पापा अपने को निहायत सफल मानते थे।

पर मुक्तिदूतजी एक तो पापा के हमउम्र हैं, दूसरे उनका बात करने का तरीका भी अलग है। चकित है टुनिया। पापा ने बताया था मुक्तिदूतजी न नौकरी करते हैं, न व्यवसाय। पर कितने अलमस्त। किसी बात की फिक्र ही नहीं। शहंशाह सा अन्दाज, गूँजभरी आवाज़, सिगरेट पीने का दिलकश अन्दाज़ और किस कदर आत्मीय। खाया उन्होंने कुछ नहीं, लेकिन चाय खूब तारीफ करके पी। पूछा, ''किसने बनायी, आपकी पत्नी ने?''

''नहीं, टुनिया ने, यह है मेरी छोटी लड़की तूर्णा, पढ़ने में बहुत तेज है और चाय बनाने में भी।''

'हा, हा, हा,' मुक्तिदूतजी हँस पड़े, ''यह लड़की बहुत तरक्की करेगी। मैं तो कहता हूँ जो अच्छी चाय बना सकता है, वह दुनिया में मुश्किल से मुश्किल काम कर सकता है।''

तभी दीदी तैयार होकर कमरे में आयी। सफेद साड़ी-ब्लाउज में कितनी ताज़ा लग रही थी वह, फूल की तरह। रोहिणी भाटे सभी छात्राओं को सफेद वस्त्र में आने को कहती हैं। उनका कहना है कि नृत्य एक सात्विक क्रिया है। वह स्वयं भी सफेद रंग ही पहनती हैं।

मुक्तिदूतजी को नमस्कार कर दीदी ने पापा से कहा, ''पापा, हमें ठीक ग्यारह बजे पहुँचना है रोहिणी भाटे की क्लास में। आज से 'वसन्त सेना' का रिहर्सल शुरू है।''

''ठीक है, चली जाना।'' पापा ने कहा।

तभी मिसेज़ रहेजा आ गयीं, चार नम्बर से। टुनिया के यह कहने पर भी कि मम्मी बाज़ार गयी हैं, वह अन्दर रसोई तक उन्हें देख आयीं, फिर आकर बैठक में बैठ गयीं।

उस समय पापा और मुक्तिदूतजी में बहस चल रही थी कि उत्कृष्ट साहित्य के लिए लोकप्रियता कोई शर्त हो सकती है या नहीं। मुक्तिदूतजी लोकप्रियता को व्यावसायिकता से जोड़ रहे थे, जबकि पापा उसे जनमानस से। वह बार-बार रामचरितमानस के लोकप्रिय अंश उद्धृत कर रहे थे।

मुक्तिदूतजी ने कहा, ''रामचरितमानस अपनी साहित्यिकता के कारण नहीं, धार्मिक आग्रहों के कारण लोकप्रिय है।''

मिसेज़ रहेजा बैठी रहीं कुछ देर, अपनी एक एड़ी से दूसरी एड़ी खुजाती। फिर बोलीं, ''टुनिया, हमने इडली का घोल बना रखा है साँचा दे दो तो जल्दी से इडली पक जाय।''

अब आयी न असल बात पर। यह रहेजा आण्टी इतने बहाने क्यों बनाती हैं? आते ही सीधे कह देतीं कि साँचे के लिए आयी हैं। इन्हें क्या पता बैठक में कौन बैठा है इस वक्त। सच, टुनिया को हैरानी होती है। कॉलोनी की सभी स्त्रियाँ एक-सी हैं—सुबह उठकर मेकअप कर लेना, हर वक्त खाने-पीने के बारे में सोचना, दोपहर को सोना, शाम को टी. वी. देखना और रात को घोषित करना, 'आज तो मैं बहुत थक गयी।' टुनिया ऐसी कतई नहीं बनना चाहती। वह तो ऐसी बनना चाहती है, जैसे मुक्तिदूतजी। उसे लगता है ज़िन्दगी के ज़रूरी सवालों का जवाब साहित्यकार ही ढूँढ़ सकता है।

मुक्तिदूतजी जानना चाहते थे कि क्या माधव मिश्रा अभी भी इस कॉलोनी में रहते हैं।

''रहते हैं'', पापा ने बताया, ''आजकल बहुत उदास हैं, कहीं आते-जाते नहीं। हाल ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया।''

''अकस्मात्?''

''नहीं, कैन्सर था।''

''मैं तो उनका घर भूल गया हूँ, कोई आठ बरस पहले आया था एक बार। किस नम्बर में हैं?''

''एक सौ आठ। इस ब्लॉक से हटकर उधर तीसरी सड़क के मोड़ पर जो क्वार्टर बने हैं, उनमें।''

''कहाँ भई?''

''टुनिया बता देगी, जानती है। टुनिया बेटी, ज़रा मुक्तिदूतजी को माधव मिश्राजी के घर पहुँचा दो।'' पापा बोले।

''भई, लेकिन लौटकर हम एक चाय और पियेंगे।''

''ज़रूर-ज़रूर।'' पापा की मुस्कान खिल गयी। पापा को और क्या चाहिए। उनका मन तो बस स्वागत-सत्कार के लिए बना है। वश चले तो सारा दिन-सारी रात दरवाजा खोले बैठे रहें, आगन्तुकों के इन्तज़ार में। उनकी भूख-प्यास मित्रों के साथ बँधी है। साथ में कोई खाने वाला न हो तो तीन बजे तक खाने की सुध न लेंगे। कोई आ जाय तो बारह बजे से ही भूख लग जायेगी।

टुनिया ने ज़रा भी देर नहीं लगायी। फौरन स्लीपर्स पहने और चल की मुक्तिदूतजी के साथ। बाप रे, कितने लम्बे हैं, ताड़ की तरह। बात करते समय अगर इनकी तरफ देखना हो तो गर्दन में बाँयटा पड़ जाये।

मुक्तिदूतजी ने देखा टुनिया उनके साथ लगभग भागते हुए चल रही है। उन्होंने रफ्तार धीमी कर दी। पूछा, ''यह तुम्हारी बहन थी न?''

''आपको कैसे पता?''

''वाह, तुमसे इतनी मिलती जो है।''

टुनिया ने शायद गलत सुना है या मुक्तिदूतजी ने ही गलत कहा है।

''सब तो कहते हैं मुझसे जरा भी नहीं मिलती।''

''बहुत मिलती हैं। तुम्हें पता है तूर्णा, भगवान के पास सबसे बेहतरीन प्रिंटिंग प्रेस है। इन्सान लाख कोशिश करे वह बात पैदा नहीं कर सकता जो भगवान कर सकता है। जैसे किताबें छपती हैं, सब एक सी। इसी तरह भगवान हर खानदान के नाक-नक्श के ब्लॉक प्रिन्ट करते हैं। तभी न जानकार लोग कहते हैं, 'अरे बबुआ तेरी नाक तो बिल्कुल दादी पर गयी है, तेरी हँसी में तो बुआ की छवि है। ईश्वर एक बढ़िया मुद्रक है।''

अपनी ही बात पर मुक्तिदूतजी हा-हा कर हँस दिये। टुनिया के मुँह से फौरन निकला, ''आप भगवान को मानते हैं?''

''क्यों, ऐसा तुम्हें क्यों लगा कि भगवान को माननेवाले कम होते जा रहे हैं।''

''पता नहीं, एक बार पापा ने कहा था लोग ज्यों-ज्यों पढ़े-लिखे बन रहे हैं, उनकी भगवान पर से आस्था हिल रही है।''

''यह तो पापा ने कहा था, तुम क्या कहती हो?''

''मुझे भी ऐसा ही लगता है।''

''नहीं, पापा को ऐसा लगता है, इसलिए तुम्हें ऐसा लगता है। टुनिया रानी, अलग से सोचो, क्या हमारे देश से कभी ईश्वर में विश्वास खत्म हो सकता है? अभी मैं चौराहे के बीचोंबीच एक बौड़म-सा पत्थर रख दूँ सिन्दूर में रंगकर। और खुद उस पर जाकर दो फूल चढ़ा आऊँ। फिर देखना तुम अपने लोगों की कितनी आस्था है। दस में से नौ आदमी यहाँ रुकेंगे, मत्था टेकेंगे, फूल-फल चढ़ायेंगे। इसे कहते हैं आस्था।''

''या अन्धविश्वास।''

''नहीं विश्वास। वैसे विश्वास और अन्धविश्वास में बड़ा महीन-सा फर्क होता है। तुम अभी बहुत छोटी हो। वरना तुम्हें समझाता।''

आ गयी न वही बात। यह छोटी होना तो बबालेजान हो गया है। अच्छी-खासी बात समझ आ रही थी कि ब्रेक लग गया, अभी तुम बहुत छोटी हो।' इस वक्त मुक्तिदूतजी मेहमान हैं, वरना टुनिया पूछती, 'छोटों को बड़ा बनने के लिए क्या करना पड़ता है? क्या सिर के बल खड़ा होना पड़ता है?'

मुक्तिदूतजी ने गौर से उसकी ओर देखा, ''थक गयी?''

''नहीं,'' टुनिया ने गर्दन हिलायी।

''किस क्लास में पढ़ती हो?''

''क्या नाम है स्कूल का?''

''कैसे जाती हो इतनी दूर?''

लीजिए आ गया माधव मिश्रा का घर।

मिश्राजी घर पर हैं।

टुनिया का काम खत्म।

जायेगी।

मुक्तिदूतजी अब मिश्राजी से बातों में मशगूल हो जायेंगे। दोनों साहित्यकार, दोनों बातूनी, जानती है टुनिया मुक्तिदूतजी को कौन-सा याद रहेगा वह किस क्लास में पढ़ती है, कैसे स्कूल जाती है, स्कूल का नाम क्या है। बच्चों से ऐसी बातें सभी पूछते हैं और सभी भूल जाते हैं। पापा के एक दोस्त हर एक बार उससे उसका नाम पूछते हैं और हर बार भूल जाते हैं।

पापा का ख्याल है चाय के बाद मुक्तिदूतजी को खाना भी खिलाया जाये। और क्या। बारह बजे हैं, चाय पिलाते एक-डेढ़ बज जायेंगे।

मम्मी सनीचरी से अभी लौटी नहीं हैं। लौटकर भन्नायेंगी, 'बस शुरू हो गयी इनकी दावतें। इतना ही शौक था खिलाने का तो किसी हलवाइन से शादी कर लेते। सारा दिन बैठी रहती भट्ठी पर। बाज़ार से धूप में तपते आओ और मरो चूल्हे पर !''

टुनिया उनके आने से पहले कुछ बना लेगी। पर क्या? उसे आलू की तरकारी के सिवा कुछ बनाना आता ही नहीं। दीदी होती तो उसकी खुशामद कर टुनिया पनीर निकलवा लेती। पनीर-आलू की सब्जी बन जाती, पर दीदी तो रिहर्सल के लिए जा चुकी।

चलो जैसे बुरा-बावरा आता है बनायेगी टुनिया। पापा

को 'ना' न कहेगी-खराब बनेगा तो सॉरी कह देगी। ढेर सी सलाद काट देगी। चटनी, अचार सब रखा है, दे देगी। मिठाई पापा मँगा ही लेंगे।

मम्मी के लिए नहीं छोड़ेगी कोई काम। एक तो मम्मी थकी हुई लौटेंगी, दूसरे उन्हें गुस्सा आयेगा। मम्मी पसन्द करें तो छुट्टीवाले दिन टुनिया सारे घर का खाना बना दे। पर पसन्द ही तो असली बात है। मम्मी को किसी के हाथ का बना खाना अच्छा नहीं लगता। कई नौकरों की मम्मी छुट्टी भी कर चुकी हैं। कोई चपाती मोटी बनाता था, तो कोई सब्जी पतली बनाता। किसी की उन्हें सफाई नापसन्द थी तो किसी की हाथ की सफाई। मम्मी बहुत स्वादिष्ट भोजन बनाती हैं, पर किसी को सिखाना उनके बस की बात नहीं। झींकने लगती हैं। मुक्तिदूतजी आये। पहले चाय पी। पापा ने खाने के लिए आग्रह किया। सहज भाव से वह रुक गये।

टुनिया ने अकेले हाथ सारा इन्तज़ाम किया। वह दौड़-दौड़कर गर्म फुल्का खिला रही थी। उसे बिल्कुल कष्ट नहीं हो रहा था। मुक्तिदूतजी कब-कब आते हैं।

''आपकी लड़की की आवाज़ बहुत अच्छी है, इसका रेडियो ऑडिशन क्यों नहीं करवाते?'' मुक्तिदूतजी ने कहा।

पापा उत्साह और गर्व से बताने लगे, ''उसे समय ही कहाँ है रेडियो के लिए। फिर रेडियो में वे कलाकार जाते हैं जो मंच अथवा टी.वी. पर अयोग्य सिद्ध होते हैं। रेडियो तीसरी श्रेणी की प्रतिभाओं के लिए है। यह तो स्टेज की नामी कलाकार है। आये दिन इसके शो होते रहते हैं, बल्कि एक बार फिल्मों के लिए भी प्रस्ताव मिला। काफी नामी प्रोड्यूसर का था, लेकिन आप जानते ही हैं। कॉलेज भी जाना रहता है। पढ़ाई में हरदम अव्वल आती है।''

''कौन यह टुनिया?''

''यह तो अभी बिल्कुल मूर्ख है, कुछ नहीं आता, वह मेरी बड़ी बेटी पपीहा।''

''नहीं सहाय साहब, मैं इसकी बात कर रहा हूँ, आपकी छोटी लड़की की। इसकी आवाज़ में एक संस्कार है। आजकल बहुत कम दिखायी देता है।''

फुलका लाते हुए टुनिया ने सुना, ''आपकी छोटी लड़की...''

सहसा विश्वास नहीं हुआ टुनिया को। इस घर में हमेशा दीदी की जय-जयकार हुई है। दीदी के गाने पर तालियाँ बजी हैं; दीदी के नृत्य पर बधाई मिली है। दीदी के प्रमाण-पत्र मढ़ाये गये हैं। दीदी महान हैं। टुनिया से कोई पूछे दीदी क्या है?

पानी का जग लाते-लाते टुनिया के कानों में मुक्तिदूतजी की आवाज़ पड़ी है, ''सहाय साहब, आवाज़ से आप किसी की पूरी शख्सियत जान सकते हैं। सच्चे-खरे इन्सान की आवाज़ नाभि से उत्पन्न होती है और उर से टकराती हुई, एक समूची संस्कृति का दस्तावेज बन कण्ठ से निकलती है। आपकी छोटी लड़की की आवाज़ में यह सब है। उसकी आवाज़ एक समूची सम्भावना है।'' टुनिया का अंग-अंग सितार-सा झनझना उठा। क्या यह सच है? क्या यह सब उसके लिए कह रहे हैं। बहुत मज़ाक करते हैं न। लेकिन हँस तो नहीं रहे। मज़ाक के मूड में तो नहीं दिखते। गम्भीर होकर बोल रहे हैं। इतने बड़े साहित्यकार झूठ क्यों बोलेंगे? शायद झूठ ही होगा। यों ही उसे खुश कर रहे हैं या पापा की खुशामद कर रहे हैं, खुशामदी तो नहीं लगते।

वह उनके सामने बोली ही कहाँ। वे ही बोलते रहे। क्या उन छोटे-छोटे अस्फुट जवाबों में से ही उन्होंने यह मणि ढूँढ़ निकाली? टुनिया ने सोचा था उन्होंने उसे मूर्ख मानकर ही ज़्यादा बात नहीं की। पापा गर्दन हिलाते हुए उनके आगे मिठाई की प्लेट बढ़ाने लगे। पापा ने अपनी परिवार-प्रशस्ति शुरू कर दी, "हमारे घर में सभी की आवाज़ बहुत अच्छी है। मेरे पिताजी की आवाज़ भी बहुत अच्छी थी। जब वे सस्वर रामायण पाठ करते थे तो सारा मुहल्ला आ जाता था सुनने। भीड़ सँभालना मुश्किल हो जाता था। पपीहा की आवाज़ तो सबसे अच्छी है। क्या बतायें, आज होती तो आपको गाना सुनाते!'' कुछ नहीं लेना-देना टुनिया को इस परिवार-पुराण से। अब लाख बार घरवाले उससे चाय बनवाएँ, पानी मँगवाएँ, सब्जी कटवाएँ, कुछ नहीं व्यापेगा उसे। उसे आज यह कैसी सम्पदा मिल गयी है। उसके कानों में ठुमरी-सी छोटी यह बात किस कदर ठुमक रही है, 'आपकी छोटी लड़की......आपकी छोटी लड़की।'

किसी से जुड़कर

सुषमा मुनीन्द्र

वह किसी के साथ जुड़ना नहीं चाहता, जबकि मौसी की जिद है, उसे किसी से जुड़ना सीखना होगा। मौसी की जिद पर वह जुड़ना सीखने लगा, लेकिन उसने पाया, कोई उससे जुड़ना नहीं चाहता। तब वह हैरान हुआ। मौसी सदमे में आ गई। बौखलाकर कहने लगी, ''निर्गुण वह तुम्हारा सच जरूर है, पर उस सच का कारण तुम नहीं हो फिर उस सच को लड़कीवालों को बता देने की क्या जरूरत है!''

वह निर्विकार मुद्रा अपना लेता है—''मौसी, विवाह जीवनभर का मामला होता है जो कि नेक इरादे और ईमानदारी से होना चाहिये। बाद में कोई यह न कहे गलत या ढोंगी लड़के के साथ संबंध हो गया।''

''पर तुम्हारा सच किसी को पता क्यों चलेगा?''

''मौसी बातें अपनी ही ताकत से एक दिन सामने आ जाती हैं। और कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें छिपाना धोखा देना होता है।''

''जब तुम दोषी नहीं तो...''

''यही तो अड़चन है मौसी, दोषी और पीड़ित दोनों की जिंदगी समान रूप से प्रभावित होती है।''

मैं बचपन में यौन शोषण का शिकार हुआ हूँ, यह सच बताकर, वह अब तक चार लड़कियों को चौंका चुका है। चारों लड़कियाँ समान भाव से चौंकी थीं। उनसे एकांत में बातें करते हुये यह उनके बारे में कुछ नहीं पूछता है, बल्कि कहता है। लाजिमी तौर पर लड़की और उसके अभिभावक चुप्पी साध लेते थे। इस चुप्पी पर मौसी अधीर हो जातीं और वह निर्विकार भाव से परिमल बुक सेंटर चला जाता। उसके इस भाव में तब भी बदलाव न आया, जब वह बुक सेंटर बंद कर रात में घर आया और मौसी ने घर के पते पर आया लहर का लेटर, जो चार लड़कियों में तीसरी थी, उसको दिखाया—

''निर्गुण हमारे लिये अच्छी खबर है। लहर शादी के लिये तैयार है।''

''मनोविज्ञान की इस छात्रा ने क्या अच्छी तरह विचार कर लिया है?''

''तभी तो।''

वह थोड़ा हँसकर ही रह गया।

2

खाना खाकर वह अपने कमरे में आया और पत्र पढ़ने लगा अभी एक दिन मैंने आपको एक चैनल के कार्यक्रम में देखा। आप हॉट सीट पर थे। विषय था चाइल्ड एब्यूसमेंट। आपने कुछ बातें संकेत और बिंब में बताईं, कुछ अँग्रेजी में। यह आपको सरल *और सुविधाजनक लगा होगा, क्योंकि इस विषय में किस भाषा-परिभाषा में संवाद किया जाये, यह बड़ी समस्या है। कार्यक्रम को देखकर मुझे लगा आपके जिस सच को सुनकर मैं आपको विचित्र मान बैठी थी, वस्तुतः वह आपकी नैतिकता और ईमानदारी है। तभी तो आपने चीजें स्पष्ट कर दीं। यदि आपने मेरे बारे में बुरी राय न बना ली हो, तो मैं प्रस्तुत हूँ लहर। उस खा*मोश घर में वह पत्र ताजा खबर की तरह दाखिल हुआ, तथापि निर्गुण ने अनुत्तेजित भाव से पत्र को तकिये के नीचे रख दिया और आँखें मूँद लीं।

वह कार्यक्रम में भाग लेने की मानसिकता नहीं बना पा रहा था। यौन को जिस तरह गोपनीय, वर्जित बनाकर रखा गया है, उसे देखते हुये वह साहस न कर पा रहा था। फिर साहस किया, शायद किसी पीड़ित को उससे हौसला मिले। ऐंकर पूछ रही थी—

''कुछ याद है जब तुम्हारे साथ यह सब हुआ, तुम कितने साल के थे?''

''नौ या दस।''

''और यह सब तुम्हारे साथ मौसा ने किया।''

''हाँ। मौसी-मौसा ने मुझे गोद लिया था।''

''दत्तक पुत्र के साथ बाप रे...कैसा महसूस किया था तब?''

''वह अस्त-व्यस्त कर देने वाला अनुभव था। इस तरह का उत्पीड़न बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक,

मनोवैज्ञानिक, प्रत्येक स्तर पर असर डालता है। यह असहनीय स्थिति है।''

''तुमने अपनी समस्या किसी को बताई थी?''

''बहुत दिनों तक नहीं। मैं मौसा से बहुत डरता था। एक दिन मौसी ने देख लिया।''

''कभी भूल सकोगे?''

''कुछ जख्म ऐसे होते हैं, जो कभी नहीं भरते।''

''विवाह को लेकर क्या सोचते हो?''

''मौसी की इच्छा है अब मेरा विवाह हो जाना चाहिये, पर सच जानने के बाद लड़की वाले चुप्पी साध लेते हैं।''

''यहाँ पर बैठी कितनी लड़कियाँ हैं, जो निर्गुण और निर्गुण जैसे लड़कों से शादी करना चाहेंगी?''

एक भी हाथ नहीं उठा।

निर्गुण हँसा, ''यही होता है। किसी के प्रति दया या सहानुभूति रखी जा सकती है। सहयोग नहीं मिलता।''

वे दृश्य...वे कुछ दृश्य फिर कभी धुँधले नहीं हुये। दृश्य उतने भर नहीं होते, जितने दिखते हैं। उनके भीतर का विस्तार चौंकाने वाला होता है। वे कुछ घटनायें...। कुछ घटनायें ऐसी होती हैं, जो पूरी जिंदगी का फैसला कर देती हैं और जिंदगी हमेशा के लिये बदल जाती है। वह चेहरा...चेहरा जो मौसा का था, अब हर किसी का चेहरा बन जाता है और निर्गुण हतप्रभ हो जाता है। वह मजबूत पकड़, वह जबरदस्त पकड़ थी, जिससे वह आज भी नहीं छूट पाया है। उसकी बदलती-बिगड़ती जिंदगी... जिंदगी से जब-जब उसका सामना हुआ, हर बार अलग अर्थ, रहस्य, भिन्नता और अनिश्चितता के साथ मिली।

इस आलीशान घर, जो कि बर्बर घर में तब्दील हो गया, में रहना कुटुम्ब के सभी बच्चों का सपना था। निःसंतान गंगा मौसी की बहनें और ननदें समय पर अपने बच्चों को मौसी के घर रहने के लिये भेजा करती थीं कि मौसी का उनके बच्चे से लगाव विकसित हो और वे उसे गोद ले लें। जीत निर्गुण की हुई। वह गौरव के साथ उस आलीशान घर में स्थापित हुआ। उसे मौसा का परिमल बुक सेंटर बहुत सुहाता था, क्योंकि वहाँ कॉपी, किताबें, सुंदर पेन, पेंसिल, रबड़ पता नहीं क्या-क्या होता था। उसे मोटे तौर पर याद है, आरंभिक अरुचि के बाद मौसा उससे अनुराग रखने लगे थे। उस अनुराग पर वह संदेह क्या करता, जब मौसी ही न कर पाई। और एक दिन वह अनुराग कठिन खेल में बदल गया। नानाजी बीमार थे। मौसी उन्हें देखने चली गईं। परीक्षा के कारण वह न जा सका...। एक रात मौसा बिल्कुल बदले हुये रूप में थे। उनकी आँखों में मुग्धता थी, पकड़ मजबूत थी, उसका रोना उन पर असर न डाल रहा था, उसके दर्द की अनसुनी ध्वनियाँ वायुमंडल में अब भी कहीं होंगी। मौसा बड़ी मुलामियत से बोला था–

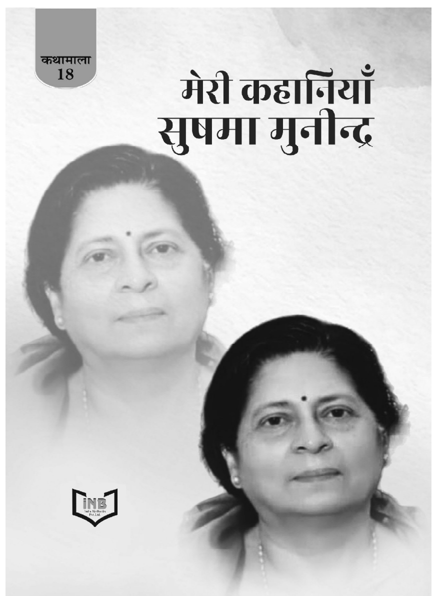

''निर्गुण तुम मुझे राक्षस समझ रहे होंगे, पर मैं राक्षस नहीं हूँ। यह सब सभी बच्चों के साथ होता है, पर वे किसी से बताते नहीं हैं। बता देने से माँ-बाप तुरंत मर जाते हैं।''

वह उसके बचपन पर हमला था। उस दिन से वह एक बड़े शून्य में बदलने लगा। बचपन की मासूमियत, मस्ती, मोहकता खत्म हो गई। हृदय खाली हो गया, कभी न भरने के लिये। वापस आई मौसी ने मौसा को उलाहना दिया, ''निर्गुण कुंभला गया है, तुमने इसका ध्यान नहीं रखा।''

मौसा हँसे, ''रोज होटल से इसकी पसंद का खाना लाता था। पूछ लो।''

4

मौसी आश्वस्त हो गई। वह कभी आश्वस्त न हो सका। हरदम डरा हुआ होता। बिस्तर गीला कर देता। दस्त

लग गये। गंदा बिस्तर देख मौसी खीझ गई—

''निर्गुण क्या हो गया है तुम्हें? कभी बिस्तर गीला कर देते हो तो कभी...

और आज बिस्तर में दस्त? इतने बड़े हो गये हो?''

मौसा बीच में कूद पड़े, ''इतना बड़ा भी नहीं हो गया है। नींद में दस्त छूट गया होगा। यह परेशान है। इससे सहानुभूति रखो।''

''हाँ, पर अचानक क्या हो गया है? बेटा, तुम्हें मेरे पास अच्छा नहीं लगता क्या?''

''गंगा बच्चे से सहानुभूति रखो। परेशान है।''

निर्गुण सचमुच परेशान था। मौसी उसकी यातना को पहचानती क्यों नहीं? जबकि मौसी ऐसे किसी संदर्भ या आयाम पर सोच तक न सकती थी। रिश्तों में इस तरह की भूल, भ्रम, अज्ञानता, असावधानी, अति विश्वास पनप जाता है और कथित संस्कारशील घरों में शोषण निर्बाध रूप से जारी रहता है। प्रत्येक पुनरावृत्ति पर निर्गुण का हृदय भर आता। भगवान, नृसिंह की तरह किसी खंभे से निकलकर मौसा को दो फाड़ कर दो। कई बार सोचा चुपचाप अपनी माँ के पास चला जाये। नहीं जानता था किस बस में बैठकर जाये। कारण क्या बताये? अब उसे लगता है वह तय नहीं कर पाता था, क्या करना चाहिये। यह बात बतायेगा तो माँ-बाप मर जायेंगे, यह भ्रम इतना प्रभावी था कि जब छुट्टियों में माँ के पास गया तब भी कुछ न बता पाया। बस इतना कहा, ''माँ मैं यहीं रहूँ!''

माँ ने पुचकारा, ''वहाँ अच्छा नहीं लगता बेटा। तुम भाग्यवान हो, जो इस गरीब घर से उस अच्छे घर में चले गये। अपने बाबू को देखते तो हो, कभी इधर काम ढूँढ़ते हैं, कभी उधर। मेरी किस्मत में गंगा की तरह सुख नहीं है। बेटा तुम बड़े हो गये हो, तुम्हें समझदारी सीखनी होगी। अपने कुछ कपड़े अपने छोटे भाई को दे जाना। मौसी तुम्हें नये खरीद देगी।'' चूँकि वह तीन भाई-बहनों में सबसे बड़ा था, अतः उसे छोटी उम्र में बोध कराया जाने लगा था, वह बड़ा है। अब उसे लगता है उसने बचपन ठीक से जिया ही नहीं। उसकी नादानियाँ कभी माफ हुई ही नहीं, क्योंकि वह घर का बड़ा बच्चा था। मौसा उसे लेने आ गये। छोटे भाई व बहन के लिये कपड़े और मिठाई लाये थे। इसी कारण मौसा का जादू सभी पर चल जाता था। उसे वधिक के साथ भेजते हुये अम्मा-बाबू बहुत प्रसन्न थे।

5

वह फिर बर्बर घर में था। डरा हुआ। मौसा उसे घेरते, वह दूर भागता। बात करते, वह जवाब न देता। मौसी को लगता अनादर कर रहा है।

''निर्गुण, मौसाजी कुछ पूछ रहे हैं।''

मौसा हँसते, ''गंगा, बात को तूल न दिया करो। बच्चे ऐसे ही होते हैं। इसे स्वाभाविक भाव में रहने दो।''

आज सोचता है सब कुछ अस्वाभाविक बनाकर मौसा किस स्वाभाविक भाव की बात करते थे? मौसा ने ऐसा क्यों किया? कौन-सी कुंठा, अतृप्ति, विकार, प्रतिरोध रहा जो...?

उसका चित्त अशांत रहने लगा। अंक कम आने लगे। वह मौसी के साथ बैठकर मूवी देख रहा था। मौसी फिल्मों की शौकीन थीं। कैसेट मँगाकर देखा करती थीं। रेप सीन था। निर्गुण भय और घबराहट से काँपने लगा।

''मौसी यह सब तो बच्चों के साथ...''

मौसी ने वीसीआर बंद कर दिया, ''निर्गुण तुम पागल हो।''

''मैं जानता हूँ न।''

''लगता है गंदे लड़कों की सोहबत में पड़ गये हो। यह सब बच्चों के साथ नहीं, लड़कियों के...अच्छा जाओ यहाँ से। बच्चे ऐसी मूवी नहीं देखते।'' मौसी क्रुद्ध हो गई।

निर्गुण की परेशानी बढ़ गई। मौसी क्या ठीक कहती हैं? किससे पूछे? उसे अपने मित्र विराम की याद आई। विराम उससे दो साल बड़ा था और बहुत अधिक जानकारी रखता था। अब उसे लगता है वह समस्या ठीक से बता नहीं पाया था, पर अधिक जानकारी रखने के कारण विराम समझ गया था।

''निर्गुण तू बेवकूफ है क्या? मौसा को दो लात रसीद कर। मौसी को बता। बेवकूफ, बताने से माँ-बाप नहीं मरते। चीख-चिल्ला, शोर मचा। मेरा बड़ा भाई शहर का दादा है। कह तो चार जूते मौसा को मरवा दूँ...''

मौसा को कल्पना नहीं थी, निर्गुण योजना बना रहा है।

निर्गुण ने मौसा की भुजा पर दाँत गड़ा दिये और तब तक काटता-चिल्लाता रहा, जब तक जागकर मौसी न आई। मौसी के आदर्श पुरुष का यह अब तक का सबसे घिनौना रूप था। वे डर और अविश्वास से मौसा को देखती रह गई थीं। यह बच्चा पता नहीं कब से यातना सह रहा है और इस पिशाच को झिझक न हुई।

6

मौसी खूब रोने लगी थी। फिर निर्गुण को लेकर अपने कमरे में आ गई थीं। वह नहीं जानता मौसी और मौसा के बीच फिर क्या बहसें हुईं। जानता है दोनों फिर अजनबियों की तरह रहने लगे थे। आज सोचता है तो हैरान होता है। अल्पशिक्षित मौसी में दृढ़ता आ गई थी या मौसा में मौसी का सामना करने का साहस नहीं था। मौसी की वह कई स्तरों पर हार थी। मौसी का विश्वास भंग हुआ था। बच्चा गोद लेने-देने जैसी सामाजिक आस्था को धक्का लगा था। वे तो मौसा के साथ रहना ही नहीं चाहती थीं, किन्तु नितांत निजी फैसले भी व्यक्ति खुद नहीं कर पाता। कुटुंब की राय को मानना पड़ता है। अब उसे लगता है ननिहाल में यह बात मौसी ने ही बताई होगी। मौसा का जादू सभी पर चल जाता था, अतः कोई भी सहसा विश्वास न कर सका। किया, तो सुझाव दिये जाने लगे। नाना बोले, 'गंगा तुम्हारी बेवकूफी और लापरवाही कम नहीं रही, जो तुमने जानने की कोशिश नहीं की कि निर्गुण डरा हुआ क्यों रहने लगा है? अब चुप रहने में बेहतरी है। इस कलंक का असर पूरे परिवार पर पड़ेगा। हम लोगों को क्या जवाब देंगे? निर्गुण की जिंदगी भी कठिन हो जायेगी।'' मामा ने विरोध किया, ''जीजा को समाजबदर करना चाहिये।''

निर्गुण की माँ व्याकुल थी, ''गंगा मैं सोचती थी निर्गुण सुख से है। मैं इसे ले जाऊँगी।'' मौसी अकुला गई, ''लीला मेरे पास अब निर्गुण के अलावा कोई आधार नहीं है। तुम्हें डर है तो मैं उस घर में नहीं रहूँगी।'' नाना ने चेताया, ''तो कहाँ रहोगी? अलग रहने का लोगों को कारण क्या बताओगी? शांति से काम लो और सतर्कता बरतो।'' उस समय तो वह अर्थ ग्रहण न कर पाया था। आज सोचता है अपने कहे जानेवाले लोग भी अपनी पोजीशन, हित, स्वार्थ ही देखते हैं। तभी तो नाना को कुटुंब की चिंता हो आई थी। मामा मौखिक विरोध करके रह गये। माँ जिद कर उसे वापस न माँग सकी। मौसा फिर तेजी से चुकते चले गये। मौसी की नजर में गिरने से ताकत जाती रही या ग्लानि घनीभूत थी। नींद की गोलियाँ खाईं या हृदयाघात हुआ। वे एक रात कमरे में मृत पाये गये। मौसी यही बोली, ''लोग ऐसा काम करते क्यों हैं कि फिर जी नहीं पाते।'' निर्गुण ने बी. कॉम अंतिम साल की तैयारी और परिमल बुक सेंटर एक साथ संभाला। कभी इस प्रतिष्ठान में मौसा की कुर्सी पर बैठना उसका सपना था। अब उसने वह रिवॉल्विंग चेयर बदल दी, जिस पर मौसा बैठा करते थे। उसे चेयर में मौसा के होने का बोध होता था। जल्दी ही वह बुक सेंटर में स्थापित हो गया। उसे अपने काम में आनंद आने लगा था।

7

और इसी तरह दिन बिता देना चाहता था, जबकि लहर का पत्र आने से घर परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। मौसी उत्साहित थीं–

''निर्गुण, मैं लहर के बारे में बात करना चाहती हूँ।''

''वह भावुक होकर सोच रही है। बाद में पछतायेगी।''

''तो यही होगा न, हम फिर वहीं आ जायेंगे जहाँ से चले थे। इस डर से हम चलना नहीं छोड़ देंगे। बेटे अब जो भी होगा, उतना बुरा नहीं होगा, जितना हो चुका है। सच कहती हूँ इस घर को तीसरे की जरूरत है। कुछ उम्मीद हो जायेगी। किसी के किये की सजा हम क्यों भोगें? हमें जिंदगी को सही तरीके से जीने का हक है।''

''पर मौसी...''

''निर्गुण, मेरे भी कुछ अरमान हैं।''

''मौसी मैं शून्य में बदल चुका हूँ। मुझसे किसी को कोई लाभ न होगा।''

''शून्य कहीं पर जुड़ता है तो बढ़त दिलाता है।''

''तुम्हें विश्वास है मौसी?''

''यह तो मानी हुई बात है।''

''तो इस मानी हुई बात को आजमाया जाय।''

निर्गुण के भीतर इच्छा हो आई है, जानने की किसी से जुड़ने पर अंततः लगता कैसा है?

पल्टू की सोच

प्रदीप देवीशरण भट्ट

रवि, शशि, सुमेरू, हर्ष और परमानंद उर्फ पल्टू, ये पाँचों "सदानंद जोशी जूनियर हाई स्कूल" के आठवीं कक्षा के छात्र हैं। पाँचों ही में गहरी मित्रता है, साथ-साथ पढ़ना और खेलना इनकी दिनचर्या है। रवि के पिता नैनीताल में BDO के पद पर हैं वहीं शशि के पिता की परचून की दुकान है, सुमेरू के माता-पिता दोनों ही सरकारी अध्यापक हैं, वहीं हर्ष के माता-पिता इस दुनिया में नहीं हैं लखनऊ में एक सड़क हादसे में उन दोनों की मृत्यु हो गई थी। तब से हर्ष अपने ननिहाल में ही रहकर पढ़ रहा है। ये चारों मित्र जहाँ नैनीताल में रहकर अपनी पढ़ाई कर रहे हैं, वहीं परमानंद उर्फ पल्टू नैनीताल से तीन कोस दूर एक गाँव से रोज़ाना साइकिल से नैनीताल स्थित स्कूल आता है। उसके पिता एक कृषक हैं, दादा, दादी, माँ और अपनी तीन बहनों का इकलौता भाई साथ में दो गाय, दो बैल, पाँच भेड़, सात बकरियों एवं दो कुत्तों के साथ खुशहाल परिवार है। चारों बहन-भाई को जितना आपस में एक-दूसरे से प्रेम है उतना ही प्रेम उन्हें अपने सभी पारिवारिक सदस्यों गाय, बैल, भेड़ बकरी एवं दोनों कुत्तों से भी है।

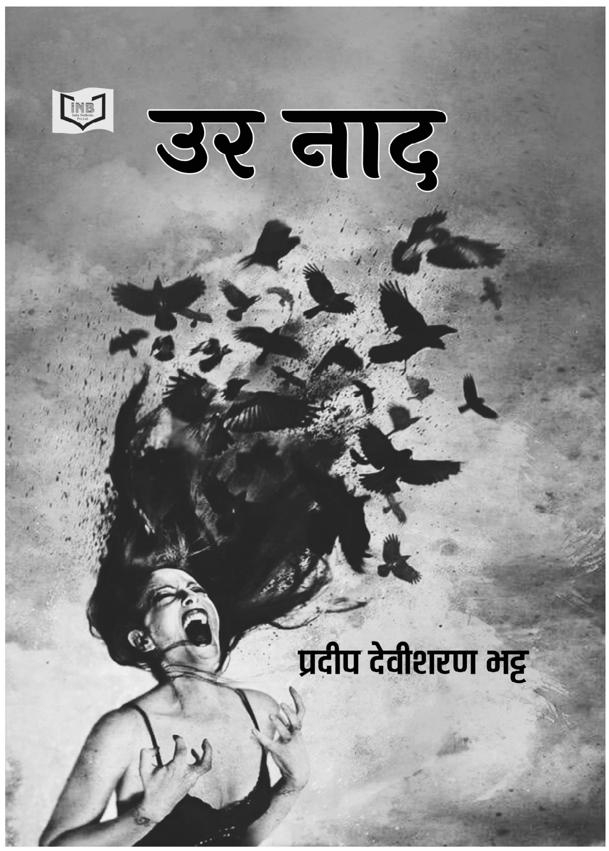

इत्तिाक से पाँचों को ही विज्ञान में गहरी रुचि है। रवि जहाँ "Bio-Technology" में अपना करियर बनाना चाहता है वहीं शशि aeronautical Engineer बनने का ख्वाब संजोए बैठा है। सुमेरु का एकमात्र लक्ष्य पढ़ाई पूरी करने के बाद नेशनल डिफेंस एकेडमी, देहरादून है। उसकी इच्छा है कि वह भारतीय सेना के लिए वैज्ञानिक प्रयोग करे और कीर्तिमान स्थापित करे। हर्ष केमिकल इंजीनियर बनना चाहता है वहीं परमानंद उर्फ पल्टू किसी से कुछ भी शेयर नहीं करता वरन् पढ़ाई और खेलने के बाद वह अपने पिता के काम में हाथ बँटाना ज्यादा पसंद करता है। अच्छी बात यह है कि पाँचों मित्रों में इतना अद्भुत सामंजस्य है कि कभी भी किसी भी बात को लेकर कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं होता। यहाँ यह विशेष है कि परमानंद उर्फ पल्टू को पल्टू कहकर बुलाने का अधिकार या तो पल्टू के घरवालों को है या उसके चारों दोस्तों को। यदि स्कूल में अन्य किसी ने परमानंद को पल्टू कहकर बुलाया तो समझो उस लड़के की खैर नहीं। इसी तरह मौज-मस्ती में पूरा वर्ष कब और कैसे बीत गया, किसी को पता ही नहीं चला। खैर तय समय पर परीक्षाएँ हुईं और तय समय पर ही परीक्षा का परिणाम भी घोषित हो गया। जैसा कि अपेक्षित था आठवीं कक्षा के विज्ञान के कुल 123 छात्रों में से परमानंद को सर्वाधिक अंक प्राप्त हुए। शशि, सुमेरू, रवि और हर्ष के अंक भी परमानंद द्वारा प्राप्त अंकों

के आसपास ही थे, शेष छात्रों में 41 अनुत्तीर्ण हुए थे एवं 77 छात्रों ने बस परीक्षा जैसे-तैसे पास की थी।

23 मार्च, 2015 को श्री रवि शंकर शुक्ल प्रधानाध्यापक जिनकी नियुक्ति पिछले प्रधानाध्यापक की जुलाई में सेवा निवृत्ति के बाद अगस्त 2014 में हुई थी, ने आठवीं कक्षा में उत्तीर्ण हुए कॉमर्स, ऑर्ट एवं विज्ञान के सभी छात्रों को रिज़ल्ट कार्ड देने हेतु सभा कक्ष में प्रातः 8 बजे उपस्थित होने का निर्देश दिया। तय समय पर सभा की कार्रवाई शुरू हुई। बारी-बारी से आर्ट, कामर्स एवं विज्ञान के अध्यापकों ने सभी उत्तीर्ण छात्रों को शुभकामनाएँ प्रेषित कीं एवं उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना की एवं सभी छात्रों को रिज़ल्ट कार्ड वितरित कर दिये और अध्यक्षीय भाषण के लिए प्रधानाध्यापक महोदय को आदर सहित पोडियम की ओर आने का आग्रह किया।

सभी अध्यापकों एवं छात्रों को लगा कि अब रविशंकर शुक्ल प्रधानाध्यापक महोदय भी पिछले प्रधानाध्यापक की भाँति ही रटा-रटाया भाषण देकर सबको बोर करेगें, इसलिए कुछ ने अपना सामान भी समेटना शुरू कर दिया, किंतु प्रधानाध्यापक महोदय ने आरम्भिक उद्बोधन के मध्य में ही अप्रत्याशित रूप से उन्होंने विज्ञान के उन पाँचों छात्रों को मंच पर आने के लिए आमंत्रित किया। सभी अध्यापक एवं छात्र इस अप्रत्याशित घटना से हतप्रभ थे।

प्रधानाध्यापक ने पाँचों छात्रों का परिचय पूछा और कहा कि मेरी जानकारी के अनुसार आप पाँचों विज्ञान में गहरी रुचि रखते हैं।

परमानंद को छोड़कर आप चारों ने अपने लक्ष्य भी निर्धारण किये हुए हैं, मैं चाहता हूँ कि आप बारी-बारी से अपनी भविष्य की योजनाएँ हम सबसे साझा करें, ताकि अन्य विज्ञान के छात्र भी इससे लाभान्वित हों और विशेष रूप से वे 41 छात्र जो इस वर्ष अनुत्तीर्ण हुए हैं आगामी वर्ष में न केवल उत्तीर्ण हों, बल्कि विज्ञान विषय में अपनी रुचि और गहरी कर सकें और अंत में मैं चाहूँगा कि परमानंद आज अपने मित्रों के अतिरिक्त यहाँ उपस्थित सभी छात्रों और अध्यापकों को अपने लक्ष्य के विषय में भी बतायें। शुरुआत रवि से होगी।

रवि ने मंच पर आकर सभी को प्रणाम किया और विज्ञान विषय में रुचि और "Bio-Technology" में करियर बनाने के उद्देश्य को सबके साथ साझा किया। इसी प्रकार शशि ने eronautical Engineer बनने के अपने लक्ष्य को दोहराया। सुमेरु ने अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य/लक्ष्य "नेशनल डिफेंस एकेडमी, देहरादून" को बताया और यह भी बताया कि वह भारतीय सेना के लिए बुलेट रोधक हेल्मेट एवम वर्दी बनाना चाहता है।

हर्ष ने अपने सम्बोधन में केमिकल इंजीनियर बनने के अपने प्रण को दोहराया, साथ ही बताया कि उसे इसकी प्रेरणा अपने मामा जी से मिली है। और अंत में परमानंद ने मंच पर आकर सभी गुरुजनों को प्रणाम किया और बताया कि वह विज्ञान का प्रयोग किसानों और मजदूरों के लिए करना चाहता है।

ऐसा करने की प्रेरणा उसे अपने किसान पिता एवं अन्य किसानों के साथ-साथ फसल के बाद मजदूरों की हाड़ तोड़ मेहनत देखकर हुई। इसी के साथ उसने गाँवों में बिजली की कमी के विषय में बताया, साथ ही समाधान स्वरूप सौर ऊर्जा एवं पशुओं के गोबर से बिजली बनाने के अपने दृढ़ संकल्प को भी दोहराया। उसकी बातें और उद्देश्य सुनकर सभी आश्चर्य से उसकी तरफ देखने लगे और विशेष तौर पर उसकी मित्र मण्डली। क्योंकि उन्होंने ऐसा तो स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उनका प्रिय मित्र परमानंद उर्फ पल्टू किसानी को अपना करियर चुनेगा।

अंत में प्रधानाचार्य महोदय ने अपनी विशेष टिप्पणी में बताया कि मैंने जब से इस स्कूल में ज्वॉइन किया है तब से उनकी इन पाँचों छात्रों पर नज़र थी। चूँकि ये स्कूल सिर्फ आठवीं तक है एवं इसके बाद ही बच्चे डिसाइड करते हैं कि उन्हें नौवीं क्लास में क्या लेना है।

कॉमर्स लेनी है, आर्ट या फिर विज्ञान; अतएव उन्होंने इस सभा का आयोजन इसी उद्देश्य से किया, ताकि छात्र अपने विषय में स्वयं निर्णय ले सकें। और अंत में आप सभी को भविष्य की शुभकामनाएँ।

सकारात्मक पहल

जगदीश चंद चौहान

शेखर कई साल बाद कनाडा से अपने गाँव लौटा है। कल वह जब हिमालय की गोद में बसे अपने गाँव में गाड़ी से उतरा तो उसने मिट्टी को नमन किया। उसे सुखद आश्चर्य हुआ कि अब गाँव में सड़क आ गई है। गाँव का तो जैसे नक्शा ही बदल गया है। अब यहाँ कुछ दुकानें भी खुल गई हैं। उसे अपने दिन याद आ गये थे जब उन्हें दूर-दूर से सामान कंधे पर लाद कर लाना पड़ता था। उसने देखा कि गाँव में अब ज्यादातर मकान पक्के बन चुके हैं और आने-जाने के रास्ते व गलियाँ सीमेंट से पक्की कर रखी हैं। गाँव में साफ-सफ़ाई अच्छी दिख रही है, गलियों में कहीं गंदगी, कीचड़ भी जमा नहीं है। उसने देखा कि कहीं-कहीं सोलर लाइटों के खंभे भी लगे हैं। पिछले आठ-दस वर्षों में गाँव काफी कुछ बदल गया है। कनाडा में लोग सच बोलते हैं कि इंडिया बड़ी तेजी से बदल रहा है।

अगली सुबह शेखर लंबी सैर के लिए सड़क मार्ग से ही अगले गाँव की तरफ निकल पड़ा। उसका मन हुआ कि पहाड़ी पर स्थित नाग देवता के मंदिर में भी माथा टेक आऊँ। जैसे ही वह सड़क से मंदिर के रास्ते पर मुड़ा तो उसे बड़ा सा नवनिर्मित गेट दिखा जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था, "भारत माता के वीर सपूत शहीद मेजर राजीव राठौड़ स्मृति स्थल।" उसके साथ ही एक चबूतरे पर राजीव की आदमकद मूर्ति भी लगी हुई थी।

शेखर को एकाएक गहरा आघात लगा। सिर चकराने-सा लगा और वह थोड़ी देर वहीं चबूतरे पर ही बैठ गया। उसके बचपन का एक दोस्त दुनिया छोड़ कर चला गया और उसे किसी ने बताया तक नहीं। आज तो मोबाइल का जमाना है, सूचना क्रांति का युग है, फिर भी मुझ तक यह दुखद ख़बर क्यों नहीं पहुँची। फिर उसने सोचा कि अब उसका कोई परिवार का सदस्य तो यहाँ रहता नहीं जो हर खबर उस तक पहुँचाता। उसका बड़ा भाई राजेश भी हैदराबाद में एम. एन.सी. में नौकरी करता है, घर पर ताला पड़ा रहता है। चचेरे भाइयों के परिवार रहते हैं, उन्हीं से कभी-कभार कुछ बातों का पता चल पाता है।

शेखर बचपन की यादों में खो सा गया, राजीव के साथ बिताए दिन किसी चलचित्र की तरह उसकी आँखों के सामने तैरने लगे। गाँव के पाँच-छह साथी रोज छह-सात किलोमीटर दूर स्कूल पैदल जाया करते थे। आते-जाते खूब मस्ती किया करते थे। स्कूल में मैं और राजीव दोनों बास्केटबॉल टीम से खेलते थे। एक बार जब हमारी टीम जिला टूर्नामेंट जीत कर लौटी थी, तो स्कूल में हमारा खूब सम्मान किया गया था। सारी टीम को फूलों से लाद दिया गया था। बच्चे हम सब खिलाड़ियों को बस अड्डे से स्कूल तक कंधे पर बिठा कर लाए थे। मेरे और राजीव के गले में जितने हार पड़े थे उन्हें पहनकर ही हम इतने दूर स्कूल से घर पैदल आए थे ताकि गाँव वाले और हमारे परिवार वाले विशेष तौर पर देखें कि हमारा क्या जलवा है। रगड़ लग-लगकर फूलों का रंग हमारे कपड़ों और चेहरों पर ऐसा लग गया था जैसे हम होली खेल कर आए हों। रास्ते में लोग हमें बड़ी उत्सुकता से देखते और हम पर हँसते, मगर हम तो हम ही थे। कोई नहीं भी पूछता तो भी बताते फिरते कि हमारी टीम पूरे ज़िले में प्रथम आई है। वह तो घर आकर मेरी माँ बोली थी जरा शीशे में शक्ल तो देखो कैसे जोकर बनकर आये हो। कितने भोले हुआ करते थे हम, अब तो लगता है कि हम अपनी स्वाभाविक वृत्तियों को दबाने की कला में माहिर हो चुके हैं, या यूँ कहें कि बनावटी मुखौटे ओढ़ने में पारंगत हो गये हैं।

शेखर को राजीव की एक और घटना याद आ गई, जब वे दोनों अन्य तीन दोस्तों के साथ भरी दोपहर में शिकार पर निकल पड़े थे। हाथों में डंडे थे और साथ में दो कुत्ते। बड़े नाले के पास पेड़ों और झाड़ियों का घना झुरमुट होता था। ऐसी जगहों पर अक्सर जानवर छिपे रहते हैं। हम चलते-चलते झाड़ियों में डंडा मारते या पत्थर मारते, ताकि कोई शिकार बैठा हो तो उठ जाय। राजीव ने उसमें बड़ा सा पत्थर फेंका मगर वहाँ कहीं छिपकर बाघ सोया हुआ था। हमारे एक

साथी प्रमोद जो नाले में झुककर कुछ शिकार देखने की कोशिश कर रहा था उसकी नजर बाघ की नजरों से टकराई। वह पीछे भागा मगर बाघ एकदम उस पर कूद पड़ा था। उस दिन अगर राजीव फुर्ती नहीं दिखाता तो प्रमोद तो उसका निवाला बन ही गया होता। राजीव ने हवा में ही बाघ की गर्दन पर डंडे का ऐसा जोरदार प्रहार किया कि वह प्रमोद की बजाय दूसरी तरफ गिरा। फिर भी प्रमोद की कमीज जो उसके पंजे में फँस गई थी वह तो ऊपर से नीचे तक उसने चीर डाली थी। आगे तो दोनों कुत्तों का भला हो जो बाघ पर टूट पड़े थे, हम सब दोस्त भी डंडों से उसे पीटने लग गये थे। खतरा भाँपकर बाघ वापिस नाले की तरफ भाग निकला। उस दिन तो हम लोग बाल-बाल बचे थे। इस घटना के बाद घरवालों ने हमारी पिटाई तो की ही साथ में हमारे शिकार खेलने के शौक पर भी हमेशा के लिए पाबंदी लगा दी थी।

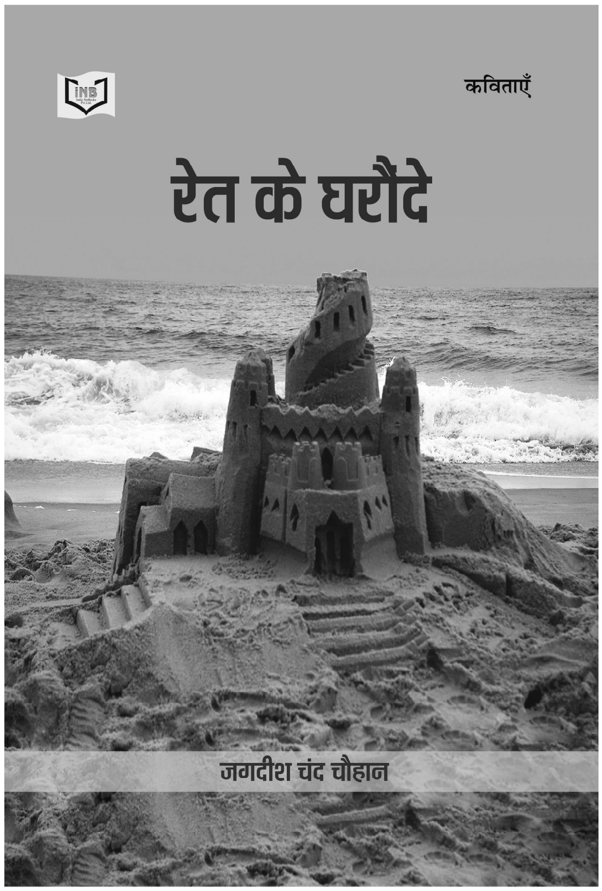

एक बार हमें शहद निकालने का ऐसा चस्का लगा कि जहाँ भी मधुमक्खियों का छत्ता दिखता उसमें पतली सी लकड़ी डालकर देखने लग जाते कि इसमें शहद बन गया है या नहीं। एक दिन स्कूल जाते समय रास्ते में मधुमक्खी के छत्ते में शायद गलत जगह लकड़ी लगा दी जिससे उन्होंने हम पर जोरदार हमला बोल दिया। फिर जो हम भागे तो दो किलोमीटर बाद ही साँस ली थी। उस दिन अगर हम ओलंपिक में दौड़े होते तो गोल्ड, सिल्वर और ब्रॉन्ज़ तीनों मैडल हम लोगों को ही मिलते, फिर भी कुछ मधुमक्खियों ने हमारे थोबड़े तो सुजा ही दिए थे।

शेखर, मंदिर जाने की बात तो भूल गया और उसके कदम खुद-ब-खुद राजीव के घर की तरफ चल पड़े। उसने देखा घर पर मातम छाया हुआ है, राजीव की माँ, सत्या चाची बिल्कुल जड़ बन चुकी है, चेहरा भावशून्य। पहले तो वह शेखर को देखती रही फिर अचानक बुरी तरह बिलख पड़ी। शेखर भी अपने आपको रोक नहीं पाया और चाची से लिपट कर खूब रोया। वे दोनों रोये जा रहे थे, एक-दूसरे के आँसू पोंछ रहे थे। पता नहीं चल रहा था कौन किसको ढाढ़स बंधा रहा है। भोला चाचा ये सब देख रहा था और अपने आँसू छुपा रहा था। भोला चाचा बोले, “पिछले एक-डेढ़ साल से बस रोना-धोना ही चल रहा है, मगर राजीव मिलना तो दूर, जालिम सपने में भी दिखाई नहीं दिया।” भोला ने शेखर को पकड़ कर कुर्सी पर बिठा लिया और कहने लगा, “तुम्हारा दोस्त तो बड़ा निर्मोही निकला, खुद चला गया और हमें जिंदगीभर तड़पने के लिए छोड़ गया। जाना ही था तो हमें भी साथ ले जाता, कम-से-कम ये नरक तो नहीं भोगना पड़ता।”

“कब किसको जाना है यह तो ऊपर वाला ही जानता है चाचा, ये किसी आदमी के बस में थोड़े ही है।” शेखर ने साँत्वना देते हुए कहा।

शेखर को उनके बुझे चेहरों को देखकर स्मरण हो आया कि चौदह-पंद्रह साल पहले जब राजीव कमीशन मिलने के बाद पहली बार घर आया था तो ये दोनों कैसे खिले-खिले से दिख रहे थे। सारा गाँव राजीव के स्वागत के लिए उमड़ पड़ा था। दो किलोमीटर दूर मुख्य सड़क पर सभी लोग फूलों और नोटों के हार लिए खड़े थे। राजीव को लोग बाजे की धुन पर नाचते हुए गाँव तक लाये थे। उस दिन भोले चाचा कुल्ले वाली पगड़ी बाँधे खूब जच रहे थे और सत्या चाची भी नये कपड़ों और गहनों में एकदम चहक रही थीं। सभी उनकी किस्मत की सराहना करते हुए कह रहे थे कि भोला और सत्या की किस्मत किसने ली। एक साधारण मजदूर किसान का बेटा आर्मी में अफ़सर जो हो गया था। वैसे तो हमारे गाँव में आर्मी में बहुत लोग हैं मगर गाँव में पहला आर्मी ऑफिसर राजीव ही बन पाया था।

भोला राजमिस्त्री का काम करता था और हर रोज सुबह अपना खाना बाँध कर दिहाड़ी लगाने निकल जाया करता था। उसी कमाई से उसने अपनी दो बड़ी बेटियों की पाल-पोस कर शादियाँ कर दी थीं और राजीव को भी पढ़ा-लिखा दिया था।

शेखर ने राजीव की शहादत के बारे में पूछा तो चाचा ने बताया कि चार आतंकवादी जंगल में छिपे हुए थे, राजीव के दस्ते ने उनमें से तीन को तो मार गिराया था, मगर चौथा कहीं छिपकर घात लगाए बैठा था, उसी ने राजीव और उसके दो साथियों को बुरी तरह जख्मी कर दिया था। उन्हें हैलीकॉप्टर से श्रीनगर लाया गया, मगर राजीव को बचाया नहीं जा सका।

चाची बोली, “हमने क्या बिगाड़ रखा था इन आतंकवादियों का जो उन्होंने हमारा घर ही उजाड़ दिया।”

“किसी ने इनका कुछ नहीं बिगाड़ा है चाची, ये तो कलियुगी राक्षस हैं जो पूरी मानवता को ही नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं।” शेखर बड़बड़ाया।

शेखर ने पूछा, “चाचा राजीव की घरवाली और बच्चे कहाँ हैं, दिखाई नहीं दे रहे हैं?”

“जब राजीव शहीद हुआ तभी उसकी डेडबॉडी के साथ कामिनी बहू आयी थी, कुछ महीने यहाँ रुकी भी और फिर वापिस चली गई। राजीव ने जालंधर में उसके मायके के नजदीक ही मकान बनवा लिया था, अब वह वहीं रहती है, बच्चा भी वहीं पढ़ने डाला हुआ है।” भोला ने बताया।

शेखर सोचने लगा कि अब तो ये दोनों बिल्कुल अकेले हो गये और वह भी ऐसे समय में जब बेटे के जाने के दुख से दोनों पूरी तरह टूट चुके थे। शेखर ने सुझाया, “आप कामिनी को भी यहीं बुला लो। सभी एक साथ रहो, ताकि एक-दूसरे के साथ अपना दुख तो बाँट सको।”

“बेटा वह बड़े बाप की बेटी है हमारे साथ कहाँ रह पाएगी। जब राजीव ने उससे शादी करने की बात बताई थी तभी मैंने कहा था कि रिश्ता थोड़ी बराबरी वालों से ही निभ पाता है, बड़े घरों से नाता जोड़ने में बड़ी दिक्कतें आती हैं। लेकिन वह माना नहीं और वही हुआ जिसका डर था। शादी के बाद कामिनी यहाँ रही ही नहीं और न यहाँ आना ही चाहती थी। इसमें कामिनी की गलती भी तो नहीं है, वह तो ब्रिगेडियर साहब की बेटी है, हम ठहरे किसान मजदूर आदमी। वह तो राजीव की डेडबॉडी भी जालंधर ले जाना चाहती थी, मगर कोई भला अफसर था जिसने कहा कि डेडबॉडी वहीं जाएगी जहाँ उसके माता-पिता हैं। ऐसा नहीं होता तो हमें उसके अंतिम दर्शन भी नहीं हो पाते।” भोला ने बताया।

शेखर काफी देर उनके पास बैठा बातें करता रहा। सत्या ने शेखर के लिए चाय-नाश्ता बना दिया। भोला, सत्या की पुरानी स्फूर्ति देखकर हैरान था। वह समझ गया था कि वह शेखर में शायद अपने बेटे की छवि देख रही थी। शेखर ने बताया कि मैं अभी कुछ दिन यहीं पर हूँ, फिर मिलने आता रहूँगा। शेखर के चले जाने के बाद भोला और सत्या फिर से उसी ग़म के अँधेरे में खो गये थे।

शेखर सोच में पड़ा है कि नियति भी कैसे इतनी निर्मम और क्रूर हो जाती है। उस दिन से शेखर के मन को एक अजीब-सी उदासी ने घेर लिया था। रह-रहकर उसे राजीव के साथ गुजारे बचपन के दिन याद आते तो कभी भोला और सत्या का बुझा हुआ चेहरा उसकी आँखों के सामने घूमने लगता। उसने महसूस किया कि अब वे दोनों जीवन की बाजी हार चुके हैं, उनके अंदर जीने की इच्छा जैसे खत्म हो

चुकी है।

शाम के समय गाँव के कुछ लोग मिलने आये तो वहाँ भी राजीव और भोला की चर्चा चल पड़ी। लोगों ने बताया कि भोला और सत्या की माली हालत ठीक नहीं है, भूखा मरने की नौबत आ सकती है। पहले तो जब राजीव को कमीशन मिला तो उसी ने भोला को दिहाड़ी मजदूरी करने से मना कर दिया था और कहा था कि अब वह घर की पूरी जिम्मेदारी खुद संभाल लेगा। तब से भोला को कोई काम के लिए बोलता तो कह देता, “क्या करूँ, बेटे ने मना किया है, बेटे को शर्म आती है कि उसका बाप दिहाड़ी मजदूरी करे।”

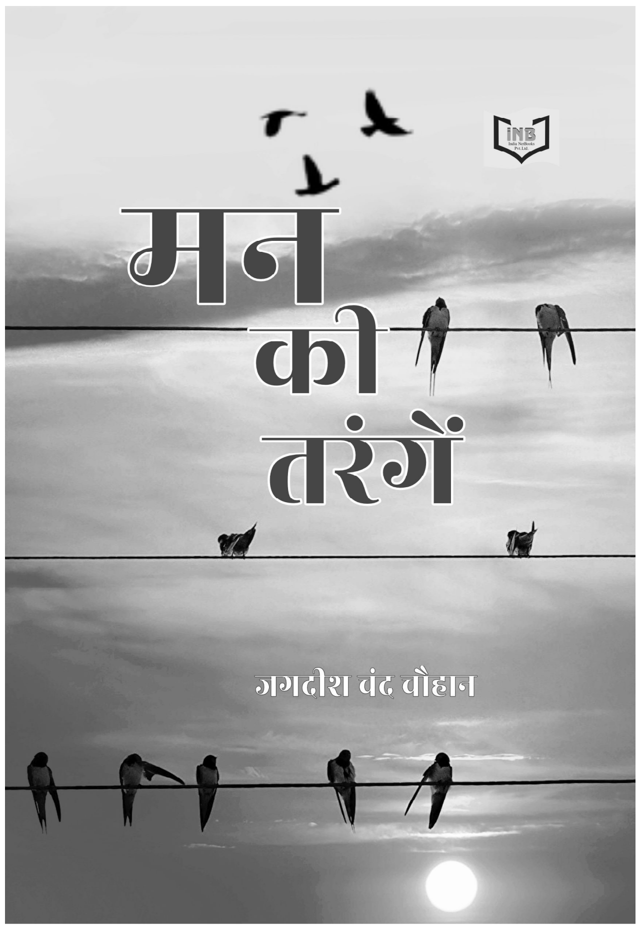

कुछ साल तो ठीक चला, इसी दौरान उन्होंने अपना पक्का मकान भी बना लिया था। फिर एक दिन राजीव जब छुट्टी आया था तो उसने बताया कि वह अपने ब्रिगेडियर की बेटी से शादी करना चाहता है। भोला ने ना-नुकुर भी किया, मगर राजीव की ही चली और शादी हो गई। शादी के बाद कामिनी एक दिन भी घर में नहीं टिकी, शायद यहाँ का रहन-सहन उसे बिल्कुल पसंद नहीं था। जब राजीव का बेटा हुआ तो वह सत्या को बच्चे की देखभाल के लिए ले गया था। सत्या वहाँ तीन-चार महीने रह आई थी। पता चला है कि वहाँ भी कामिनी ने अपने सभी परिचितों को यही बताया था कि उन्होंने बच्चे के लिए आया रखी हुई है। सत्या बेचारी वहाँ गई तो थी साहब की अम्मा बनकर पर लौटी बच्चे की आया बनकर।

शादी के बाद राजीव का घर आना भी कम होता चला गया। वह कामिनी से चोरी-छिपे कभी-कभी कुछ पैसे भेज देता। जब पैसे की ज्यादा तंगी होने लगी तो भोला को अपने औजार यानी करण्डी, गुरमाला आदि फिर संभालने पड़े और बीच-बीच में वह दिहाड़ी लगा आता, मगर शर्म के मारे यहाँ लोकल काम न करके दूर मंडी जिले में जाकर करता। लोग पूछते तो कभी कहता बेटी के यहाँ कुछ काम चला है वहीं देख-रेख के लिए जाता हूँ, कभी कहता ससुराल में साले के यहाँ काम चला है।

राजीव की शहादत पर केंद्र सरकार से और राज्य सरकार से खूब पैसा मिला, पेंशन मिली, मगर कामिनी सारा पैसा-धेला समेट कर ले गई और इन दोनों पति-पत्नी को भगवान भरोसे छोड़ गई। दोनों बेटे के ग़म में पूरी तरह टूट चुके हैं, कोई सहारा भी नहीं बचा, बेचारे करें भी तो क्या करें। घर के पिछवाड़े वाले दो कमरे प्रवासी मजदूरों को दो-चार सौ रुपये में किराये पर दे रखे हैं। पहाड़ी जमीनों में खेती-बाड़ी तो आपको पता ही है घाटे का ही सौदा है। गाँव में कई लोग मदद भी करना चाहते हैं, मगर भोला बड़ा खुद्दार व्यक्ति है

मदद लेने के लिए तैयार नहीं होता। बृद्धावस्था पेंशन के हजार-बारह सौ रुपये भी भोला को अभी नहीं मिल सकते, क्योंकि वह सत्तर वर्ष का नहीं हुआ और सत्या तो और भी छोटी होगी।

शेखर का दिमाग अब भोला और सत्या की दयनीय स्थिति पर ही अटक गया। वह अपने आप से पूछता कि तुम उनकी क्या मदद कर सकते हो, क्या तुम फिर से उनके अंदर जीने का जज्बा पैदा कर सकते हो, क्या तुम उनके लिए राजीव बन सकते हो? मगर उसे डर था कि अगर वह कोई प्रत्यक्ष मदद करेगा तो वह उन्हें हरगिज़ मंजूर नहीं होगी और शायद वह उनके आत्मसम्मान को भी ठेस पहुँचाना होगा।

शेखर ने बड़े भाई राजेश से भी फोन पर विचार-विमर्श कर लिया। अगले दिन शेखर, भोला को बुला लाया और सड़क किनारे अपना खेत दिखा कर बोला, "चाचा, हम दोनों भाई चाहते हैं कि यहाँ सड़क किनारे एक अच्छा-सा मकान बनाया जाय, पुश्तैनी मकान तो जर्जर हो रहा है। आपकी क्या राय है?"

"ये तो बहुत अच्छी और खुली जगह है। यहाँ अच्छा मकान बनेगा और अगर आप चाहें तो सड़क के किनारे तीन-चार दुकानें भी निकल आएगी।" भोला ने सुझाया।

"मगर चाचा आपकी कृपा के बगैर ये काम होना संभव नहीं है। हम दोनों भाई तो इतने लंबे समय तक यहाँ रुक नहीं पाएँगे। क्या आप हम पर ये एहसान करेंगे?" शेखर हाथ जोड़ते हुए बोला। भोला कुछ बोला नहीं, सिर्फ मुस्कुरा दिया। शेखर खुश था कि उसको भोला चाचा की मूक सहमति तो मिल ही गई थी।

दोनों ने जगह का नाप-तोल किया, शाम को गाँव के एक सिविल इंजीनियर की मदद से नक्शा फाइनल हो गया, मोटा-मोटा खर्चे का हिसाब लग गया। शेखर को लगा कि भोला के अंदर सोया राज-मिस्त्री जैसे फिर से जाग उठा हो, वह एक-एक चीज बड़ी बारीकी से शेखर को समझा रहे थे। भोला को कहकर कुछ सामान मँगवा लिया। नींव डालने के लिए खुदाई चल पड़ी और मुहूर्त्त देखकर नींव का चक्का भी रख दिया गया। शेखर ने चाचा को कह रखा था कि वे खुद काम नहीं करेंगे, सिर्फ काम की देखरेख करेंगे, सबकी दिहाड़ी लगाएंगे और हिसाब-किताब रखेंगे। मिस्त्री की दिहाड़ी तब छह सौ रुपये होती थी, शेखर ने भोला को सुपरवाइजर के नाते पच्चीस हजार रुपये प्रति माह निश्चित कर दिया था। शेखर आया तो एक सप्ताह के लिए था, मगर अब उसे आये हुए एक महीना बीत चुका था। काम ने थोड़ी रफ्तार पकड़ ली, शेखर ने चाचा के एकाउंट में पैसा ट्रांसफर कर दिया और सारा काम उनके जिम्मे छोड़कर वापिस कनाडा चला गया।

अब हर रोज़ शेखर की फोन पर चाचा व चाची से बात हो जाती, समय-समय पर वह पैसा उनके एकाउंट में ट्रांसफर कर देता और काम की प्रोग्रेस भी पूछ लेता। इस बीच राजेश तो कई बार गाँव आता रहा। वह भी भोला की मेहनत और ईमानदारी देखकर बहुत खुश था। भोला ऐसे काम करवा रहा था जैसे वह अपने बेटे राजीव के लिए सुंदर बंगला बनवा रहा हो। उसको लग रहा था कि शेखर के रूप में राजीव उनके पास फिर लौट आया है। भोला की काम के प्रति लगन और निष्ठा देखकर अन्य लोग भी उसे काम के ठेके देने लगे थे। अब भोला छोटा-मोटा ठेकेदार बन गया था। इधर-उधर जाने के लिए उसने एक स्कूटी भी रख ली थी।

करीब डेढ़ साल में दो मंजिला बंगला पूरी तरह से गृह प्रवेश के लिए तैयार हुआ तो शेखर और राजेश घर पहुँचे। पूरे आयोजन का काम भोला और सत्या पर ही छोड़ रखा था। जिस लगन, प्यार और अपनेपन से वे काम संभाल रहे थे उसे देखकर शेखर को उनमें अपने माता-पिता की झलक दिखाई देने लगी थी और उन दोनों को शायद शेखर में राजीव दिखाई दे रहा था। आयोजन के कर्ता-धर्ता की भूमिका में भोला और सत्या बेहद खुश और आत्मविश्वास से भरे नज़र आ रहे थे। शायद शेखर यही खुशी तो उनके चेहरे पर वापस देखना चाहता था, वरना उसको खुद भी इस बात पर संदेह है कि वह कभी कनाडा छोड़कर वापस यहाँ गाँव में बस पाएगा।

मिर्ची के रंग

बसन्त, मोहतरमा और मैं

अरुण अर्णव खरे

उस दिन बसन्त के मौसम की पहली दस्तक दरवाज़े पर सुनी तो हमारा मन भी बावरा होने लगा और फेसबुक पर एक दोहा लिख कर डाल दिया—

फूलों की वेणी पहिन, पायल बाँधे पाँव।

आया बसन्त पूछता, पता हमारे गाँव।

हद हो गई हमारे परम्परागत मित्रों में से किसी की भी दक़ियानूसी नज़र इस दोहे पर नहीं पड़ी या पड़ी भी हो तो किसी ने उसे लाइक करने के योग्य नहीं समझा। मुझे अपने इन मित्रों पर रोष तो बहुत आया पर सोनू निगम की यह सलाह याद कर कि—"हर एक दोस्त कमीना होता है" मन में सन्तोष कर लिया।

पूर्ण सन्तोष को प्राप्त होने से पहले ही एक मोहतरमा छम-छम करती आई और मेरी पोस्ट को न केवल लाइक कर गई अपितु ढेर सारा बासन्ती रस भी कमेंट बॉक्स में उँडेल गई "अहा कितना अच्छा लिखते हैं आप... मैं तो मुग्ध हूँ..."

मैं अपनी आदत के मुताबिक़ सोच में पड़ गया मुग्ध का क्या आशय है...मुझ पर मुग्ध हैं या मेरी लेखनी पर। लेकिन अन्दर के पुरुषत्व ने कुहनी मारी...क्यों बेकार की बातों में समय जाया कर रहे हो... कोई कद्रदान मिला है तो उसकी क़द्र करो। मैंने तुरन्त उत्तर दिया "आपकी तारीफ़ से अभिभूत हूँ... दिल से आपका शुक्रिया।"

"मैं तो हर अच्छे सृजन को पसन्द करती हूँ चाहे वह इंसान की कृति हो या भगवान की।"

एक बार फिर मैं साफ़ बोल्ड होते-होते बचा...क्या मतलब है उनकी इस लूज़ डिलीवरी का... इसे लुभाने के लिए फेंका गया है या आउट करने के लिए। मैंने इसी उधेड़बुन में ही धीरे से शॉर्ट लेग की ओर प्लेस किया "कितने सुन्दर विचार हैं आपके...आपकी ही तरह।"

"सच... इनबॉक्स में आइये", इस बार उनकी तरफ से ओवर पिच डिलीवरी आई।

इस ऑफ़र ने तो हिला ही दिया... मन बल्लियों उछलने लगा और उछल-उछल कर मन में बॉबी के ऋषि कपूर वाली फीलिंग आने लगी थी—"हम-तुम एक कमरे में बन्द हों और चाबी खो जाए।" अहा...इनबॉक्स जहाँ केवल हम होंगे और वह वाह कितना बासन्ती शमाँ होगा... कितना मजा आयेगा।

हमने हौले से उनके इनबॉक्स में प्रवेश किया, "हैलो"।

"आपकी इन्हीं बातों ने मुझे मोह लिया है। आप अपने प्रशंसकों का कितना ध्यान रखते हैं", उनके शब्दों में स्नेह की सुगन्ध दूर से महसूस की जा सकती थी।

"आप जैसी समझ रखने वाले प्रशंसक हैं ही कितने... लोग तो छन्द-वन्द समझते ही कहाँ हैं, चुटकुलों के दीवाने हैं सभी", मंने साहित्यिक ज्ञान परोसते हुए कहा, "आप जैसे कद्रदान हैं, इसलिए हम लोग कुछ ढंग का साहित्य रच पा रहे हैं।"

"कितनी सही बात कही आपने... मुझे आज अपनी पसन्द पर गर्व हो रहा है कि कितने बड़े साहित्यकार की मित्रता सूची में मेरा नाम है... आप अच्छे लेखक ही नहीं... बहुत प्यारे इंसान भी हैं।" कुछ ही मिनटों में उनका उत्तर आ गया।

"मैं भी स्वयं को धन्य समझ रहा हूँ... मेरे पाँच हज़ार निकम्मे दोस्तों की सूची में केवल आप ही हो जिसने मुझे सही रूप में पहिचाना है", मुझे भी उनसे बात करते हुए मज़ा आने लगा था।

"आपकी यह बेबाक़ी मुझे बहुत पसन्द आई... मैं तो ख़ुद को अन्दर तक भीगा महसूस कर रही हूँ... मुझे लगता था कि आप प्रकृति प्रेमी हैं, पर आप तो श्रृंगार में भी महारत रखते हैं।"

उनकी यह बात मुझे भी भिगो गई...मेरी रचनाओं की वह कितनी बड़ी पारखी है वरना आज तक तो किसी ने दो

शब्द भी तारीफ़ में नहीं बोले थे। उन यारों तक ने नहीं जिन्हें कितनी ही बार मैंने इण्डियन कॉफ़ी हॉउस में कॉफी के साथ ही सांभर-बड़ा भी खिलाया था। नामुरादों की दुनिया में पहली बार मुझे सच्ची प्रशंसक मिली थी।

"जिसके आप जैसे खूबसूरत और निःस्वार्थ प्रशंसक हों... शृंगार पर उसकी क़लम स्वयं चलने लगती है," उत्तर देते हुए मुझे लगा कि मैं भी कितने क़रीने से झूठ बोलने लगा हूँ...मजाल है कोई पकड़ सके इसे।

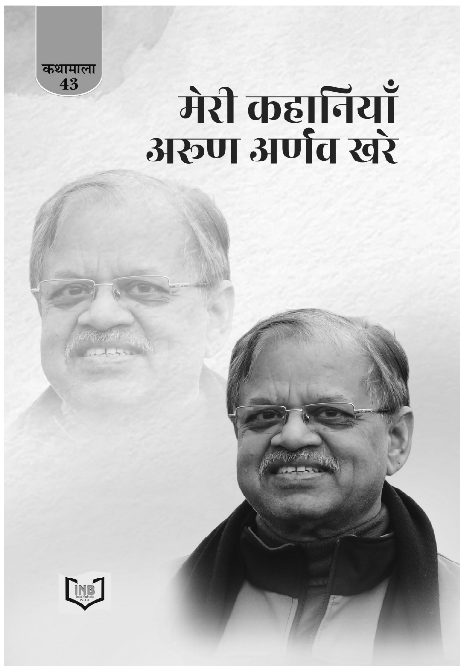

उनका उत्तर आया, "आपसे बहुत बातें करने की इच्छा है... लगता है सारी रात यूँ ही आपसे बातें करती रहूँ... पर क्या करूँ मेरा नेटपैक ख़त्म हो रहा है। अभी भी कितनी बातें हैं जो मैं आपसे कहना चाहती हूँ। आप यदि चार्ज करवा दें तो मैं बहुत उपकृत और आनन्दित महसूस करूँगी। मुझे भी लगेगा एक सच्चा हमदर्द मिल गया आज।

"हाँ...हाँ, क्यूँ नहीं...आप नम्बर दीजिये," मैंने उतावलेपन से कहा, "कितने का करवा दूँ।"

उनका नम्बर तत्काल इनबॉक्स में चमकने लगा। "फ़िलहाल एक हज़ार का करवा दीजिये... इस समय अच्छा ऑफ़र चल रहा है।"

मैंने तत्काल उनकी आज्ञा का पालन किया और रिचार्ज करवा दिया। थोड़ी देर बाद उनका मैसेज आया—"धन्यवाद...पर एक गलती हो गई...मैं बड़ी शर्मिन्दा हूँ।"

"क्या हुआ...आप क्यूँ शर्मिन्दा हैं।" मेरे मैसेज में परेशानी की पर्याप्त मात्रा थी।

उधर से उनका जवाब आया, "जल्दबाज़ी में मैंने आपको अपनी फ्रेंड का नम्बर दे दिया...क्या करूँ...आपकी मीठी-मीठी बातों में इतना खो गई थी कि पता ही नहीं चला और ग़लत नम्बर दे बैठी।"

मुझे कुछ जवाब नहीं सूझा तो थोड़ी देर बाद पुनः उनका सन्देश आ गया, "बॉय...अब मैं बात नहीं कर पाऊँगी। बार-बार नेटपैक समाप्ति के मैसेज फ्लेश हो रहे हैं। गुड नाइट।"

मैं सदमे में आ गया। जैसे-तैसे एक प्रशंसक मिला था और वह भी हाथ से फिसला जा रहा है। निठल्ले मित्रों पर ख़र्च किये गये बिलों का ब्यौरा आँखों के सामने तैरने लगा। एक सच्चे दोस्त पर क्या एक हज़ार रुपये और ख़र्च नहीं किये जा सकते। मैंने फ़ैसला ले लिया और सन्देश भेज दिया—"गलती आपने कहाँ की...गलती तो मेरी है जो आप मेरी बातों में खो गई। आप अपना नम्बर दीजिये, पर इस बार चेक ज़रूर कर लीजिये।"

"सो स्वीट..." और पलक झपकते उनका दूसरा नम्बर स्क्रीन पर था।

मैंने फिर एक हज़ार रुपयों की कुर्बानी दी। उनका धन्यवाद का मैसेज आया "रात ज्यादा हो गई है सुबह कॉलेज भी जाना है...कल शाम को बात करते हैं आज ही का समय।"

मैं एक सप्ताह से रोज शाम को उनके मैसेज का इन्तज़ार कर रहा हूँ। मैसेज बॉक्स में झाँकता हूँ तो वहाँ उनकी उँगलियों से निकले शहदीले शब्दों के स्थान पर कर्फ्यू वाला सन्नाटा पसरा दिखाई देता है। थक कर आज अपनी फ्रेंड लिस्ट चेक करने बैठ गया तो मुझे उस नाम का कोई दोस्त नज़र ही नहीं आया। जब दोस्तों की संख्या पर नज़र पड़ी तो पाँच हज़ार में से केवल चार हज़ार नौ सौ निन्यान्वे ही शेष बचे थे।

मुक्ति मार्ग

राजशेखर चौबे

हिंदू धर्म में सत्संग, यानी साधु महात्माओं की संगत का विशेष महत्व है। पिछले कुछ वर्षों में सत्संग बढ़ने के बाद भी सत्कर्म कम हो गये हैं। कितने ही संत महात्मा जेल की सलाखों के पीछे हैं और कितने ही पेरोल पर बाहर आकर मस्ती कर रहे हैं। जेल में पलने वाले महात्माओं के भक्त उनकी तुलना भगवान श्री कृष्ण से भी करते हैं। किसी बाबा को नाक रगड़कर माफी माँगनी पड़ी है और किसी बाबा को सत्संग के हादसे के बाद फरार होना पड़ा है। बहुत नाइंसाफी है यह। ये साकार बाबा लगता है निराकार हैं और अदृश्य भी क्योंकि हादसे में इनका कोई हाथ-पाँव दिखाई नहीं दे रहा है। उनके गुलामों का मानना है कि हादसा उनके जाने के बाद हुआ है। वे वहाँ कुछ देर और ठहर जाते तो भक्तों को उनका चरण रज मिल जाता और हादसा भी नहीं होता।

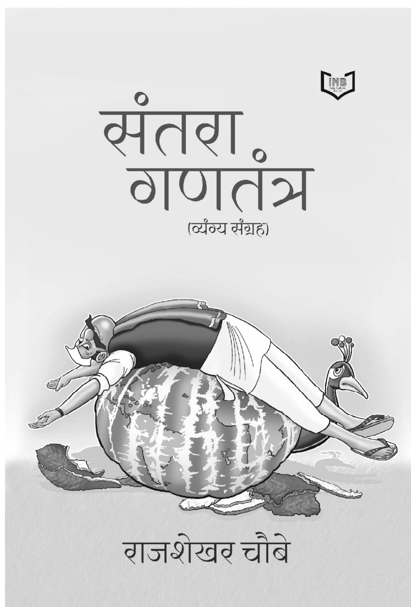

हादसे के बाद चार सहेलियों को बाबा के चरणों की धूल तो नसीब नहीं हुई, परंतु वे ऊपर पहुंच गईं।

पहली सखी—मैंने पूरे दिन भजन, कीर्तन का मजा लिया। वाकई साकार बाबा पहुँचे हुए हैं।

दूसरी, 'उनके चरण रज लेने के चक्कर में मैं भी मारी गई। इस पहुँचे हुए बाबा ने हमें ऊपर पहुँचा दिया है।'

तीसरी, 'इसी दिसंबर में मेरी बेटी की शादी थी और मैं यहाँ आ गई। अब मैं अपनी बेटी की शादी भी देख नहीं पाऊँगी। वैसे सरकार और विपक्ष को उनकी कोई गलती नजर नहीं आ रही है। प्रथम सूचना रिपोर्ट (F.I.R.) में भी उनका नाम नहीं है। लगता है कि बाबा जी की सेटिंग सब तरफ है।'

चौथी, 'ऐसी सेटिंग के बारे में मैनेजमेंट के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाना चाहिए।'

पहली, 'इसमें बाबा का क्या दोष? यह हमारे पिछले जनम के कर्मों का फल है। हमारी कुंडली में मृत्यु योग होगा।' दूसरी, 'क्या मारे गये सभी121 लोगों की कुंडली में मृत्यु योग होगा? क्या बाबा पर हम सब की हत्या का पाप चढ़ेगा?'

वैसे हिंदू धर्म का कोई मुकाबला नहीं है। हमारे पास हर एक समस्या का समाधान उपलब्ध है। हमें बताया जाता है कि हमारे सभी सुख और दुख पिछले जन्म के पुण्य और पाप का प्रतिफल हैं। न इसे आप खारिज कर सकते हैं और न ही प्रमाणित कर सकते हैं। इसे आपको स्वीकारना ही पड़ता है।

तीसरी, 'लेकिन उन्हें सजा इसी जन्म में मिलनी चाहिए।' चौथी, 'कुछ नहीं होने वाला। कुछ महीनों में लोग हमें भूल जाएंगे' लेकिन मैं एक बात नहीं भूल सकती। इस हादसे में मेरी बारह बरस की बेटी भी मारी गई। वह सत्संग में आना नहीं चाहती थी, परंतु मैंने ही उसके साथ जबरदस्ती की थी। उसकी तो पूरी जिंदगी बची थी। असमय ही विधाता ने उसे अपने पास बुला लिया।' वह फूट-फूट कर रोने लगती है। बाकी तीनों उसे दिलासा देने लगीं।

पहली, 'दुखी मत हो। भगवान ने उसे सांसारिक मोह माया से मुक्ति दिला दी है।' दूसरी व तीसरी सहेलियाँ एक साथ—'भगवान इस बाबा को भी जल्दी मुक्ति दिला दे।'

स्वास्थ्य साहित्य

मंकीपॉक्स

डॉ. श्याम सखा श्याम

अभी दुनिया कोरोना से निबटी भी नहीं थी कि एक अन्य बीमारी आ धमकी मंकी पॉक्स। यूँ नया रोग नहीं है। वैज्ञानिकों को इसके बारे में 1958 से पता है, जब यह प्रयोगशाला में शोध के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले बंदरों में पाया गया था। मंकीपॉक्स मध्य और पश्चिम अफ्रीका में सबसे आम है। लेकिन मई 2022 में, स्वास्थ्य अधिकारियों ने अफ्रीका के बाहर कई क्षेत्रों में वायरस के प्रकोप की सूचना देना शुरू किया।

अब तक दुनियाभर में मंकीपॉक्स के 16,800 से अधिक मामलों की पुष्टि की जा चुकी थी। ये आँकड़ा तेजी से बढ़ रहा है। मंकीपॉक्स व चेचक वायरस एक ही वायरल परिवार की बीमारी हैं। हालाँकि इसके लक्षण आमतौर पर गंभीर नहीं होते।

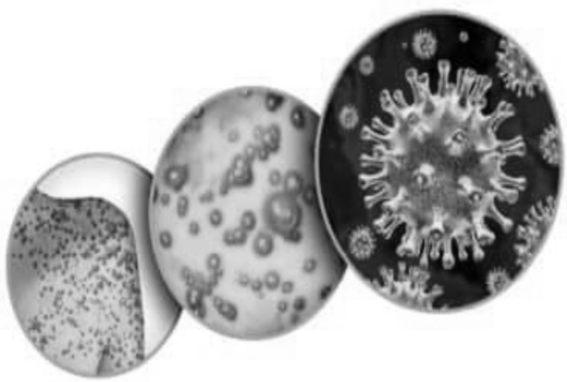

मंकीपॉक्स के मामले

23 जुलाई, 2022 को, डब्ल्यूएचओ (WHO) के महानिदेशक टेड्रोस अदनोम घेबियस ने तेजी से फैलने वाले प्रकोप को "अंतर्राष्ट्रीय चिंता का एक सार्वजनिक स्वास्थ्य आपातकाल" घोषित किया। जून की शुरुआत में विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) को रिपोर्ट किये गये 1,000 से अधिक मामलों से जुलाई के अंत तक दुनियाभर में मंकीपॉक्स के 16,800 से अधिक मामलों की पुष्टि की गयी थी।

क्या है मंकीपॉक्स

मंकीपॉक्स एक जूनोटिक वायरस है, जिसका अर्थ है कि यह जानवरों से मनुष्यों में फैलता है। बंदरों के अलावा, यह अफ्रीका में अन्य प्राइमेट में पाया गया है। मनुष्य भी इसे एक-दूसरे तक पहुँचा सकते हैं। पहला ज्ञात मानव संक्रमण 1970 में कांगो लोकतांत्रिक गणराज्य में हुआ था।

कैसे फैलता है?

यह निकट संपर्क से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में फैल सकता है। कोई व्यक्ति जो इससे संक्रमित है, वह इसे दूसरों तक पहुँचा सकता हैः—

1. शरीर के तरल पदार्थ जैसे रक्त या वीर्य के संपर्क में आना।

2. मरीज की त्वचा पर (नाक और मुँह के अंदर सहित) मंकीपॉक्स के घावों के संपर्क में आना साँस की बूँदों के माध्यम से।

3. उन संक्रमित वस्तुओं से जो शरीर के तरल पदार्थ के सम्पर्क में आती हैं, जैसे बिस्तर या कपड़े।

4. मंकीपॉक्स जानवरों से इंसानों में भी फैल सकता है। वायरस संक्रमित जानवर से मनुष्य तक पहुँच सकते हैं, यदि वे काटते या खरोंचते हैं। सीडीसी के अनुसार कोई स्तनपायी मंकीपॉक्स से संक्रमित हो सकता है।

पालतू जानवर व मानव एक-दूसरे में मंकीपॉक्स फैला सकते हैं।

1. थपथपाने, सहलाने से, लिपटना, गले लगना, चुंबन, चाटना, अपने साथ सुलाने से, भोजन के बर्तन साझा करना।

2. यदि मंकीपॉक्स है, तो वन्य जीवों और पालतू जानवरों से दूर रहें, ताकि उनमें यह फैलने से बचाया जा

सके।

3. कच्चा दूषित माँस खाने से भी मंकीपॉक्स हो सकता है।

4. वायरस शरीर में त्वचा के टूटने, दरार या जख्म (जिसके बारे में पता भी नहीं होगा) या मुँह, नाक या आँखों के माध्यम से शरीर में प्रवेश कर सकता है।

5. काफी लंबे समय तक निकट संपर्क से छोटी बूँद (ड्रॉपलेट्स) के संक्रमण से। ऐसा इसलिए है क्योंकि अधिकांश बूंदें बहुत दूर तक नहीं जाती हैं।

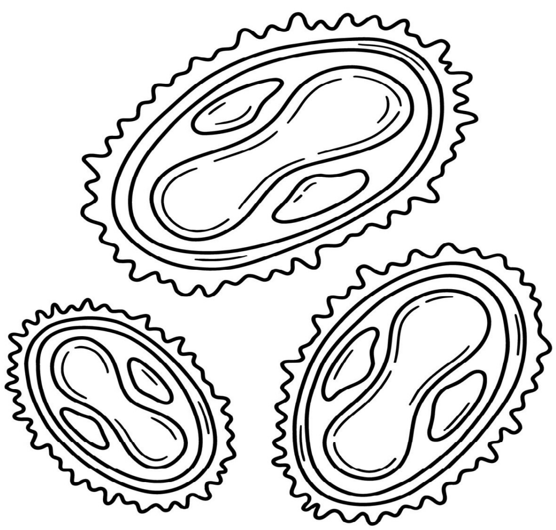

MONKEYPOX VIRUS

सामान्य लक्षणों के अलावा, नये लक्षण

(दर्दनाक फुँसियाँ फफोले जो जाँघ, जननांगों या गुदा के आसपास शुरू हो सकते हैं)

अलग-अलग आकार के फफोले या जख्म, मवाद भरे भी हो सकते हैं। कुछ लोगों को फफोलों से पहले बुखार या फ्लू जैसे लक्षण भी होते या नहीं होते हैं। कुछ लोगों को बिल्कुल भी बुखार नहीं होता है।

कुछ मामलों में, अन्य लक्षण देखे जा सकते हैं जैसे कि गुदा के आसपास दर्द, मल त्याग के बाद भी शौच करने की आवश्यकता (टेनेसमस) महसूस करना, बड़ी आँत (मलाशय) के निचले हिस्से में रक्तस्राव और गुदा और मलाशय की दर्दनाक सूजन।

अस्तर (प्रोक्टाइटिस)। जिनका कारण फफोलों का भीतरी स्थानों में होना हो सकता है–

कुछ अन्य लक्षण

1. बुखार
2. थकान
3. सिरदर्द
4. माँसपेशियों में दर्द
5. ठंड लगना
6. पीठ दर्द
7. गला खराब होना
8. सूखी खाँसी
9. सूजी हुई लसिका ग्रंथियाँ
10. साँस लेने में तकलीफ (गंभीर मामलों में)।

मंकीपॉक्स कितना गंभीर है?

बीमारी आमतौर पर 2 से 4 सप्ताह में अपना समय लेती है। यह काफी गंभीर हो सकता है, खासकर उन बच्चों में जो बहुत अधिक वायरस के संपर्क में थे या अन्य स्वास्थ्य स्थितियों या कमजोर प्रतिरक्षा प्रणाली वाले लोगों में।

एन्सेफलाइटिस

ब्रोन्को निमोनिया

कॉर्निया का संक्रमण

निदान

हिस्ट्री व जाँच

डॉक्टर घावों को देखेगा और लक्षणों के बारे में विस्तार से पूछेगा जैसे कि कब वायरस के संपर्क में आये थे। वे समान रोगों से इन्हें अलग समझने की कोशिश करेंगे

मंकीपॉक्स से मिलते-जुलते संक्रमित रोग–

1. खसरा
2. छोटी माता
3. उपदंश
4. एलर्जी
5. खुजली
6. जीवाणु त्वचा संक्रमण-बैक्टीरियल फफोले फुंसियाँ आदि। लैब टेस्ट बता सकता है कि मंकीपॉक्स है या नहीं।

क्या इसका कोई उपचार संभव है?

मंकीपॉक्स का कोई विशिष्ट उपचार नहीं है। केवल symptom की दवा दी जाती है।

एक प्रकोप को नियंत्रित करने के लिए डॉक्टर एंटीवायरल और वैक्सीनिया गामा ग्लोब्युलिन (हाल ही में चेचक के खिलाफ टीका लगाये गये लोगों के खून से बने) के साथ-साथ चेचक के टीके लगा सकते हैं।

यदि चेचक का टीका लगाया है (पिछले 3-5 वर्षों में), तो मंकीपॉक्स से कुछ सुरक्षा मिल सकती है। अध्ययनों से पता चलता है कि चेचक का टीका मंकीपॉक्स को रोकने में 85% प्रभावी है।

गर्भावस्था में जटिलता बढ़ा सकता है मंकीपॉक्स

इससे जटिलताओं की संभावना बढ़ सकती है, जैसेः गर्भपात या मृत जन्म।

क्या मास्क पहनना चाहिए?

सर्जिकल मास्क पहनना चाहिए, खासकर अगर खांसी, साँस लेने में तकलीफ या गले में खराश जैसी साँस की समस्या है। इससे संक्रमण के खतरे को कम किया जा सकता है।

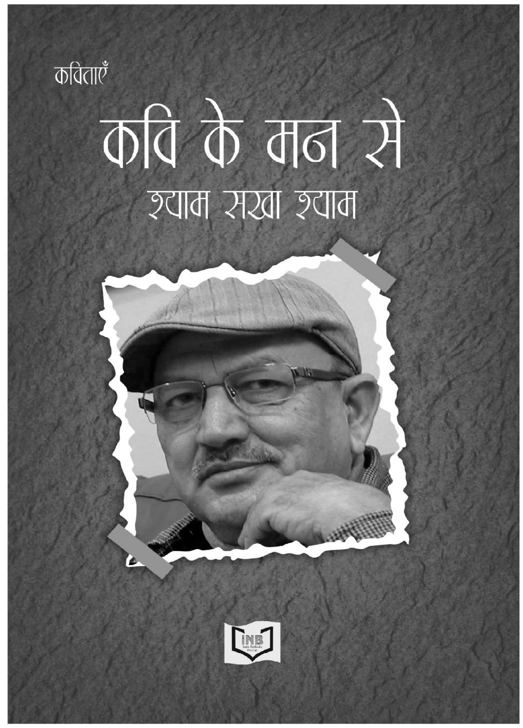

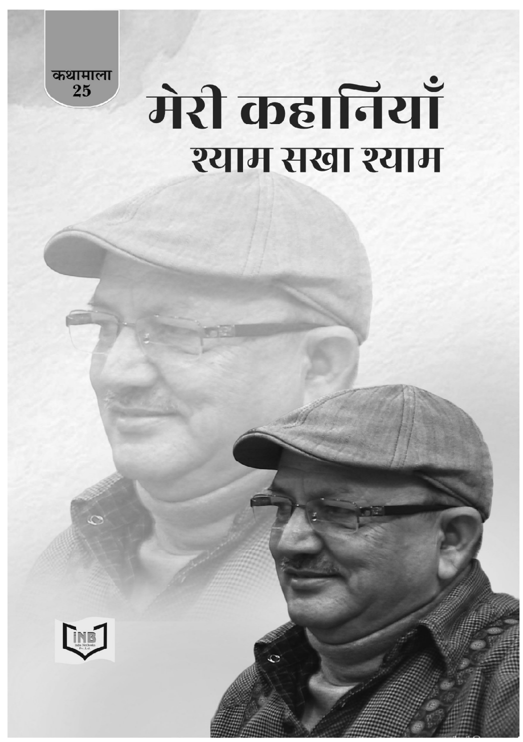

विधि साहित्य

लैंगिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन : एक व्यापक विश्लेषण

डॉ. संजीव कुमार

प्रस्तावना : लैंगिक न्याय (Gender Justice) और सामाजिक परिवर्तन (Social Transformation) समाज के उन महत्वपूर्ण मुद्दों में से एक हैं, जिन पर व्यापक चर्चा और कार्यवाही की आवश्यकता है। यह लेख लैंगिक न्याय की परिभाषा, इसके महत्व, चुनौतियाँ और सामाजिक परिवर्तन में इसकी भूमिका पर एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

लैंगिक न्याय की परिभाषा : लैंगिक न्याय का अर्थ है कि सभी व्यक्तियों, चाहे वे किसी भी लिंग के हों, उन्हें समान अधिकार, अवसर और सम्मान मिलना चाहिए। यह केवल कानूनी अधिकारों तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी समानता सुनिश्चित करता है।

लैंगिक न्याय का महत्व

1. मानव अधिकार : लैंगिक न्याय मानव अधिकारों का एक मौलिक हिस्सा है। यह सुनिश्चित करता है कि सभी व्यक्तियों को उनके अधिकारों का सम्मान और सुरक्षा मिले।

2. सामाजिक संतुलन : लैंगिक न्याय समाज में संतुलन और शांति बनाये रखने में सहायक होता है। यह समाज के सभी वर्गों को समान रूप से सशक्त और समर्थ बनाता है।

3. आर्थिक विकास : लैंगिक समानता से आर्थिक विकास में वृद्धि होती है। महिलाओं की सहभागिता से उत्पादकता और नवाचार में सुधार होता है।

चुनौतियाँ

1. पितृसत्तात्मक संरचना : समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक संरचना लैंगिक समानता की दिशा में एक बड़ी बाधा है। यह महिलाओं और अन्य लिंगों को अपने अधिकारों से वंचित रखती है।

2. शिक्षा की कमी : शिक्षा की कमी विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में लैंगिक असमानता को बढ़ावा देती है। शिक्षा से ही व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सकता है।

3. आर्थिक निर्भरता : महिलाओं की आर्थिक निर्भरता भी एक बड़ी चुनौती है। आर्थिक स्वतंत्रता से ही महिलाएँ समाज में समान स्थान पा सकती हैं।

सामाजिक परिवर्तन में लैंगिक न्याय की भूमिका

1. शिक्षा और जागरूकता : शिक्षा और जागरूकता के माध्यम से लैंगिक न्याय को बढ़ावा दिया जा सकता है। शिक्षा से लोगों की मानसिकता में परिवर्तन आता है और वे समानता के महत्व को समझते हैं।

2. कानूनी सुधार : कानूनों में सुधार और उनका कठोरता से पालन सुनिश्चित करना लैंगिक न्याय को सशक्त बनाने के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए घरेलू हिंसा और यौन उत्पीड़न के खिलाफ कड़े कानून लागू किये जाने चाहिए।

3. महिलाओं की सशक्तिकरण : महिलाओं को सशक्त बनाने के लिए विभिन्न योजनाएँ और नीतियाँ बनानी चाहिए। इसमें आर्थिक सशक्तिकरण, स्वास्थ्य सेवाएँ, और राजनीतिक भागीदारी शामिल है।

निष्कर्ष : लैंगिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन एक-दूसरे के पूरक हैं। लैंगिक न्याय के बिना सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है और सामाजिक परिवर्तन के बिना लैंगिक न्याय अधूरा है इसलिये समाज के सभी वर्गों को मिलकर इस दिशा में कार्य करना चाहिए, ताकि एक समान, न्यायसंगत और समृद्ध समाज की स्थापना की जा सके।

कविता/ग़ज़ल

मनोज पुरोहित की कविताएँ

1. तुम्हारी एक गलती

तुम्हारी एक गलती पर
वो घात लगाए बैठे हैं
दुश्मनों के दुश्मन हैं जो,
हम दोस्त बनाए बैठे हैं।
कहीं आगे न बढ़ जाएं हम
राहों में अंगार बिछाए बैठे हैं।
तेरा-मेरा, उसका-इसका लेकर
जब छेड़ दिया है मुद्दा तो
हिलेंगे हम भी नहीं
कट जाए चाहे गर्दन भी।
सुना है वो तीखी कर
तलवार मँगाए बैठे हैं।

तुझे चिंता काहे की अनंत
खतरा उनको सता रहा
खत्म ना हो जाए कहानी उनकी
इसलिये अपना अस्तित्व बचाए बैठे हैं।

2. उम्मीद का सूरज

तमतमाए या आग बरसाए
चाहे, जल्दी छिप जाए
मेरी उम्मीद का सूरज।
भले ही कुंडली में
बैठ जाए
नीच घर में,
हाथ में भी फीकी पड़
जाए सूर्य रेखा पर
मैं नहीं डरूँगा
मैं नहीं थमूँगा
चलता जा रहा हूँ
मंजिल के लिए
हरदम चलूँगा।
फिर देखना
एक दिन निकलेगा
मेरी उम्मीदों का सूरज
नई सुबह के साथ।

3. समय

अब कहाँ मिर्च की चटनी रही
कहाँ पर कुँडी, सोटे हैं
मिक्सी ने सब निगल लिया,
सब बर्गर खाकर सोते हैं।

मक्खन बातों पर लगता है
लस्सी पैकेट में सिमट गई,
चूल्हे-चौके की बातें
किताबों में ही निपट गई।

ना माँ के हाथों की रोटी है
ना रोटी में कोई स्वाद रहा
होटल-ढाबों की कदर बढ़ी
समय तेजी से भाग रहा॥

4. हर दिन बढ़ रहे हैं मौत की तरफ

हर दिन, हर पल, बीत रहा है
साँस बन कर, रीत रहा है।
अपनाते हैं जिंदा रहने के तरीके
हरदम खुश रहने के सलीके।
खाते हैं अच्छा खाना
सुबह घूमना
सूरज उगने से पहले नहाना
नहीं भूलते कमाना

इसी से तो भरता है पेट
सुबह जल्दी जाते हैं ऑफिस
थके-हारे घर पहुँचते हैं लेट
भाई साँसें चल ही इसी से रही हैं
जीवन की गाड़ी आगे बढ़ रही है।
आजकल रुपये कमाना
परिवार को सुख-सुविधाएँ
अच्छे कपड़े, गाड़ी, बंगला दिलवाना
समाज की जरूरत है
जो ये नहीं करते वो नहीं हैं सामाजिक
वो दुत्कार दिये जाते हैं
निकाल दिये जाते हैं समाज से
खुद को कायम रखने और
जीने के लिए तो कमाते हैं
तभी तो समाज में सिर उठा पाते हैं
ये तो ठीक है
कुछ कमाने के लिए भी जीते हैं
रिश्तों-नातों को छोड़कर
बस खुद के लिए जीते हैं
वो बस ये देखते हैं
हर दिन साँसें सही से चल रही हैं
ये भूल जाते हैं
ये मौत की तरफ बढ़ रही हैं...

5. आदमी
जब गली के सभी बच्चे खेलते थे
तब वह उठा के सिर पर
हरे पठों से भरा कट्टा
निकलता था उनके पास से
कुछ देर नीचे रख कट्टे को
देखने लग जाता
कुछ दोस्त आवाज देते
वह सुन के अनसुना कर देता
फिर सिर पर उठाकर कट्टा
चल पड़ता घर को
उसे ये पता था कि
घर जाकर मुझे ही
नीरना है गाय को
जिसके सहारे चलता है पूरा परिवार
भर के लाना है पानी नलके से
सिर पर उठाकर घड़ा
शाम को चूल्हा जलाने को
काट के लानी हैं लकड़ियाँ
पर उसे ये नहीं पता चला
हालातों ने उसे कब बना दिया
बच्चे से आदमी।

6. मैं कब बन गया हत्यारा
पैसे कमाने के लिए
मैं रोज जाता रहा ऑफिस
दिन देखा, ना रात
सारी खुशियाँ भूल गया
सारे आनंद बिसरा दिये,
घोंट दिया सपनों का गला।

सालभर बाद मिले
मुझे वेतन के अलावा
अवकाश के रुपये।
जिससे खरीदी मैंने
एक-दो दिन की खुशियाँ।

मगर नहीं मिली वो खुशियाँ
जो तिल-तिल कर मरती रहीं
रोज मेरे आसपास
क्योंकि उन्हें मार दिया
मैंने ही पैसों के लिए।

हत्या कर दी मैंने ही
मेरे आनंद की
पैसों के लिए,
मैं कब बन गया
आदमी से हत्यारा
पता ही नहीं चला...

डॉ. संजीव कुमार की कविताएँ

थोड़ा-सा सूर्योदय

यादों के झरोखे से
झाँकते चलचित्र
वर्तमान के अँधेरों में
कभी-कभी
बन जाते हैं जुगनूँ
और बचा लेते हैं
मन को डूबने से
रुक जाते हैं पाँव
रुक जाती है घबराहट
जग उठती है उम्मीद
कि जैसे अतीत में
अँधेरा आया था
और छँट गया था
वैसा ही होगा
एक बार फिर
और फिर से होगा
थोड़ा-सा सूर्योदय
हमारे हिस्से में भी।

एक बार फिर

एक बार फिर
अनावृत्त होने दो
क्षितिज पर चमकते
अतीत के चलचित्रों को
तैरने दो हवाओं के साथ
समय की रेखाएँ
और लिखने दो
एक बार फिर
इतिहास के दो शब्द
जो घिरते अँधेरों में डूब जाते हैं
खो जाते हैं गंभीर कोलाहल में
पर फिर भी गिरते नहीं
और झाँक उठते हैं बार-बार
जैसे घोंसलों से बाहर
खोल कर उनींदी आँखें
जैसे घेरना चाहते हैं
ज़िन्दगी की यात्रा
चलकर शब्दों के पथ पर
बार-बार लगातार बदलते परिवेश
और परिदृश्यों के साथ
उसी आइने में॥

शून्य होते शहर में

शून्य होते शहर में
ज़िन्दगी कहाँ मिलती है
होता है एक नया अहसास
जहाँ मृत्यु से हो जाता है
साक्षात्कार
और ज़िन्दगी सार्थक हो जाती है
मुक्ति की आकांक्षा
जगाती है
नये जीवन की ओर
चलने की चेतना॥

तुम्हें बाँध नहीं पाया

शब्दों में बाँधना
चाहता था तुम्हें
पर मुश्किल है
जैसे बाँधना
सूरज की रोशनी को
चाँद की चाँदनी को
धरती के गर्भ को
आकाश के विस्तार को
धरती के गर्भ को

आकाश के विस्तार को
पानी में आग को
गुँजन में राग को
बरसात में फुहार को
मन के प्यार को
तुम्हें भी बाँध नहीं पाया।

किसका बचेगा वजूद

मजहब की लड़ाई में
इतिहास बिगड़ रहे हैं
अपने-अपने पंथ में
विस्तार के लिए
हम नई गाथाएँ गढ़ रहे हैं।
क्या खुदा या भगवान
या कोई भी शक्ति

जुल्मो-सितम की कारस्तानियों को
कहेगी भक्ति?
क्या इंसान को मिटाकर
भगवान को पाया जाएगा
फिर बस्ती के खंडहर में
किसका गीत गाया जाएगा।
किस मंजिल को
पाने के लिए
ये शैतानी खून-खराबा
कया इससे ही बनेगा
दुनिया का नया नक्शा
और जब इंसान खुद को ही
कर लेगा नेस्तनाबूद
तो किसका बचेगा वजूद।

झील-सी आँखें

मैं हमेशा सोचता था
कि उसकी आँखें
झील से गहरी हैं
जिनमें डूबने को तैयार था मन
कितना लगता था अपनापन
लगता था एक नयी चेतना
बरस जाती थी
जब वह मुस्कराती आँखों से
कभी सामने आती थी
लगता था उन आँखों में
बसता था कोई स्वर्ग
जहाँ बसने का मन करता था
यही सोचकर अकुलाता था मन
पर कुछ कहने से डरता था।

आज पढ़ा है कि वह
तालाब के किनारे में
पाई गई एक लाश की शक्ल में—
घबरा उठा मैं
लगा कि शायद
अपनी गहराइयों में आँखों की
वह खुद ही डूब गई
और उस स्वर्गिक सौंदर्य से
होकर आत्ममुग्ध
हो गई स्वर्गवासी
किसी सिरफिरे के सहारे
पता नहीं...

सपनों की तस्वीर

कितना कठिन है
किसी के टूटते सपनों की
तस्वीर पढ़ना
जैसे प्याज के
छिलके उतारना
परत दर परत
उघाड़ने के प्रयास में
हाथ में आते हैं
केवल आँसू।

पुस्तक समीक्षा-1

मानवीय मूल्यों की सशक्त अभिव्यक्ति– 'मेरी कहानियाँ': रमाकांत शर्मा

समीक्षक : प्रो. अवध किशोर प्रसाद

डॉ. रमाकांत शर्मा ने अब तक नब्बे से ऊपर कहानियाँ लिखी हैं। समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी कहानियों के नौ संग्रह सामने आ चुके हैं और उन्हें पाठकों का अच्छा प्रतिसाद भी मिला है। प्रस्तुत कहानी संग्रह—इंडिया नेटबुक्स, नोएडा द्वारा 'कथामाला श्रृंखला' के अंतर्गत प्रकाशित कहानी-संग्रह है। इस श्रृंखला का उद्देश्य चुनिंदा साहित्यकारों की चयनित कहानियों का गुलदस्ता प्रस्तुत करना है। इसके अंतर्गत डॉ. रमाकांत शर्मा का कहानी संग्रह प्रकाशित होना स्वयं में इस बात का प्रमाण है कि वे सशक्त और लोकप्रिय कथाकार हैं।

इस संग्रह में उनकी पंद्रह कहानियों का आनंद लिया जा सकता है। विशेष बात यह है कि हर कहानी बिना प्रवचन दिए कोई-ना-कोई ऐसा संदेश देती है, जिसमें मानवीय मूल्य निहित हैं। सरल भाषा और रोचक शैली में लिखी गई डॉ. रमाकांत शर्मा की कहानियों की विशेषता उनकी पठनीयता है जो पाठक को शुरू से अंत तक बाँधे रखती है। उन्होंने इतनी सारी कहानियाँ लिखी हैं, पर कहीं दोहराव नजर नहीं आता। उनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उन्हें विश्व प्रसिद्ध कहानीकार ओ.हेनरी के समकक्ष ला खड़ा करती है और वह है, लगभग हर कहानी का चौंकाने वाला अंत।

संकलन की पहली कहानी 'खारा पानी-मीठा पानी' मायानगरी मुंबई की जिंदगी, इस शहर की संस्कृति और उसकी छवि पर लिखी गई अनगिनत कहानियों में सबसे अलग हट कर बेहतरीन कहानी है। शुरुआत में यह कहानी एक शहर की जिंदगी का चित्र खींचने भर का अहसास कराती है, पर अंत तक आते-आते पाठक को इतना भावुक कर जाती है कि वह खुद को भीतर तक भीगा हुआ महसूस करने लगता है। वह कहानीकार की इस बात से सहज ही सहमत हो जाता है कि खुद के और दूसरों के कड़वे-मीठे अनुभव किसी शहर की छवि तो बना सकते हैं, पर उसकी अस्मिता नहीं।

'शायद आसिफ भी यही सोच रहा होगा' कहानी सेवानिवृत्त प्रिंसिपल अमान और एक मुशायरे में उन्हें मिले शायर आसिफ की कहानी है। आसिफ के व्यक्तित्व और कलाम से वे इतना प्रभावित हुए कि उसे घर आने का निमंत्रण दे बैठे। अनजान आसिफ उनके घर के सदस्य जैसा बन गया। विदेश में रहने वाले उनके बेटों ने अनजान आदमी को घर में आने देने के खतरों के प्रति उन्हें खबरदार भी किया, पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। अचानक आसिफ ने आना-जाना बंद कर दिया तो मियाँ-बीवी ने खुद उसके घर जाने की सोची। पर, आसिफ ने तो अपना पता भी नहीं दिया था। इत्तेफाक से मिले उसके घर के पते पर पहुँच कर उन्होंने जो कुछ देखा, उसने उन्हें खुद की नजरों में अपराधी बना दिया। उसके बाद से वे आसिफ के आने का अंतहीन इंतजार कर रहे हैं। वे सोच रहे हैं कि अगर वह आया तो उससे नजरें मिलाने के लिए खुद को कैसे तैयार कर पाएँगे। क्या पता, शायद आसिफ भी यही सोच रहा हो। मानवीय संवेदनाओं को छूती यह कहानी पाठक को द्रवित कर जाती है।

कहानी 'बोलती रहो माँ' के बारे में बस इतना ही कहना काफी होगा कि हर समय लगातार बोलती रहने वाली माँ जब इस वजह से बेटे के उस पर बरस पड़ने के बाद यकायक चुप हो जाती है तो उसकी यह चुप्पी एक ऐसी कहानी बुन जाती है जो मन में भावनाओं का ज्वार उठा देती है। पाठक को अनायास यह अहसास होने लगता है कि साधारण सी लगने वाली कितनी असाधारण कहानी से वह

अभी-अभी गुजरा है।

"बहू जी और वह बंद कमरा" कहानी पढ़ते हुए शुरू में ऐसा लगता है जैसे पाठक को रहस्य और रोमांच की दुनिया में ले जाया जा रहा हो। पर, यह कहानी ऐसी औरत की कहानी में तब्दील हो जाती है जिसने आदर्श पत्नी और

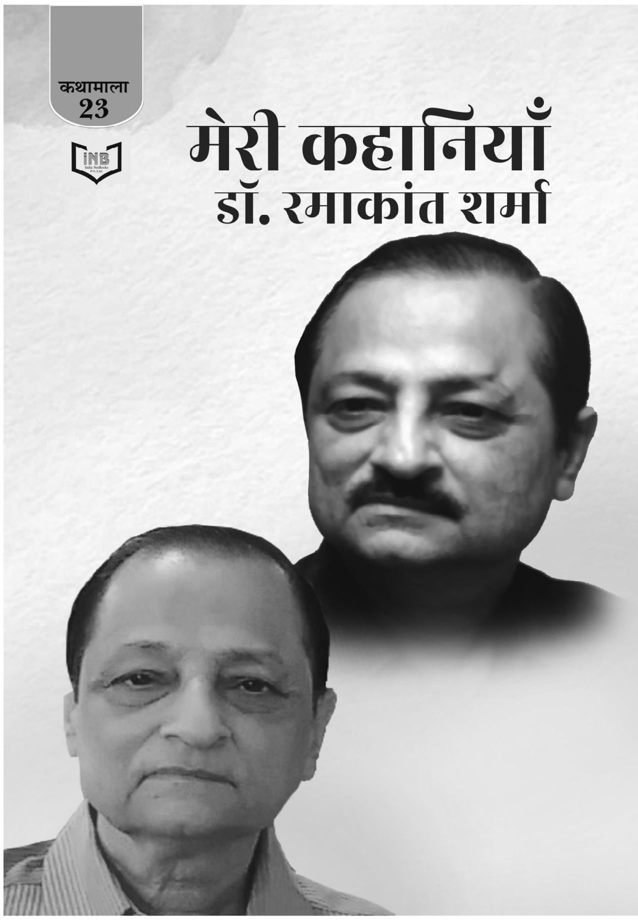

मर्यादित प्रेमिका की भूमिका में जीवनभर संतुलन बनाए रखा। पाठक बहूजी के इस रूप को जानने के बाद उनसे विरत होने के बजाय उनकी संवेदना में उनके साथ हो लेता है, यह इस कहानी की बुनावट और उसके निर्वहन की बड़ी सफलता है।

इस संग्रह की दो कहानियाँ, 'तूफान थमने की वजह' और 'ड्रेस कोड' व्यंग्यात्मक कहानियाँ हैं। 'तूफान थमने की वजह' जहाँ सरकारी कार्यालयों और बैंकों में कामकाज के प्रति उदासीनता और ग्राहकों को समझने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करती है, वहीं 'ड्रेस कोड' हमारे जीवन के हर क्षेत्र में विदेशी संस्कृति की भौंडी नकल करने पर आमादा हमारी युवा पीढ़ी की मानसिकता पर करारा व्यंग्य करती है।

'भाई साहब की डायरी' उन दो भाइयों के बीच के रिश्ते की कहानी है, जिसमें बड़ा भाई अपने छोटे भाई को माँ-बाप की कमी महसूस न होने देने के लिए कृत संकल्प है, इसीलिए वह शादी भी नहीं करता। अपनी क्षमता से बढ़कर वह उसकी हर इच्छा पूरी करता है, उसे ऊँची शिक्षा पाने के लिए दूसरे शहर भी भेजता है। पर एक बार जब वह छोटे भाई की बहुत छोटी-सी जरूरत को पूरा करने के प्रति भी बेरुखी दिखाता है तो छोटे भाई को बहुत बुरा लगता है और उसके दिल में एक फाँस-सी चुभी रह जाती है। बड़े भाई की असमय मौत के बाद जब उनकी डायरी उसके हाथ लगती है और जो भेद खुलता है, उससे वह हतप्रभ होकर रह जाता है और उसके दिल में चुभी फाँस उसके आँसुओं के साथ बह निकलती है।

"गहरे तक गड़ा कुछ" कहानी जवान विधवा के प्यार, उसके किशोर बेटे की मानसिकता और अपराध-बोध की कहानी तो है ही, उस उम्र की अकेली विधवा औरत का दर्द समझने का एक गंभीर प्रयास भी है। विधवा होने में उसका क्या कसूर? क्या उसे प्रेम करने और सहज जीवन जीने का अधिकार नहीं है? प्रश्न गंभीर हैं और इस कहानी का अंत इन प्रश्नों पर गंभीरता से सोचने को विवश कर देता है।

कहानी 'एक पैसे की कीमत' गये जमाने के एक पैसे और उसके मुकाबले आज के रुपयों की कीमत की तुलना करती एक मासूम और रोचक कहानी है। कहानी की बुनावट ऐसी है कि लगता है जैसे मुंशी प्रेमचंद की कोई कहानी पढ़ रहे हों।

'हर सवाल का जवाब नहीं होता', कहानी इस बात को

शिद्दत से रेखाँकित करती है कि जिंदगी में कुछ सवाल ऐसे उभर आते हैं, जिनका ढूँढ़ने पर भी कोई जवाब नहीं मिलता। शुरुआत में यह कहानी रोमांस और अधूरे प्रेम की कहानी लगती है, पर बाप और बेटे के बीच रिश्ते के उलझाव की यह कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, प्रेम के उफनती नदी-से उस रूप को सामने ले आती है जो अपने उतावलेपन में अच्छे-बुरे सबको समेटकर चलते हुए किनारों के बंध तोड़ देती है। कहानी का अंत कल्पना से परे तो है ही, मन को छूने वाला भी है।

संग्रह के पन्ने पलटते हुए जैसे ही हम कहानी 'मोना डार्लिंग' पर पहुँचते हैं, मन में अनायास यह विचार उठता है कि हम एक और प्रेम कहानी पढ़ने जा रहे हैं, पर यह हमारे सामने एक ऐसी वृद्धा की मार्मिक कहानी के रूप में सामने आती है जो बिलकुल अकेली रहती है। उसका इकलौता बेटा अपने परिवार के साथ विदेश में बस गया है और वह पराये लोगों में अपनापन ढूँढ़ती फिरती है।

संकलन की अगली कहानी 'रामलखन दुःखी नहीं हो पा रहा', मानव मन का बारीकी से विश्लेषण करती जबरदस्त कहानी है। खुद और अपने परिवार के सुख-दुख को नजरअंदाज करके अपने अफसरों की दिन-रात खिदमत करने और फिर भी उनकी डाँट-डपट खाने के लिए अभिशप्त रामलखन अपने मन की खीझ और उबाल को मन में ही दबाये रखने के लिए मजबूर है। पर जब जंगल में एक पिकनिक के दौरान हुए हादसे में अफसरों और उनके परिवारों पर आफत टूट पड़ती है, तब उनकी दशा देखकर रामलखन चाहकर भी दुखी नहीं हो पाता। शायद वह शोषित आदमी अफसरों और उनके परिवार के लोगों को प्रकृति की तरफ से दिये गये दंड में अपने प्रतिशोध को पूरा होते देख रहा होता है। बढ़ती उम्र मनुष्य के भीतर शारीरिक कमजोरियों के साथ मानसिक कमजोरियाँ भी बढ़ाती जाती है और यहाँ तक कि उसकी दृढ़ मान्यताओं को भी खंडित कर जाती है। कहानी 'कमजोर आदमी' इस सत्य को बहुत सलीके से उद्घाटित करती है। यह कहानी जीवन के यथार्थ को तो सामने लाती ही है, वृद्धावस्था में अकेलेपन और उससे उपजे डर का सजीव और दिल छू लेने वाला चित्रण भी करती है।

कहानी 'फटा बस्ता' छोटी-सी कहानी है, पर बड़ा प्रभाव उत्पन्न करती है। छोटे बच्चे का बस्ता इतना फटा हुआ है कि उसे स्कूल ले जाते उसे शर्म आती है। उसके संगी-साथी फटे बस्ते को लेकर उसे चिढ़ाते रहते हैं। वह अपनी मां से उसे सिल देने के लिए कहता है, पर अपनी व्यस्तता के चलते वह उसे सिर्फ आश्वासन ही दे पाती है। फटे बस्ते की सिलाई के बहाने यह कहानी विशेषकर गरीब घरों में महिलाओं की दयनीय स्थिति का बड़ा मुद्दा उठाती है। हमेशा दबी-दबी रहने वाली घरेलू महिला समय आने पर तन कर खड़ा होने का साहस भी रखती है, यह इस कहानी का केंद्र बिंदु नजर आता है। संग्रह की अंतिम कहानी 'माँ के चले जाने के बाद' डॉ. रमाकांत शर्मा की बहुचर्चित कहानियों में से है। उन्होंने इस कहानी-संग्रह की 'अपनी बात' में लिखा है कि कथाबिंब में कहानी 'माँ के चले जाने के बाद' प्रकाशित होने पर गुजराती-हिंदी के जाने-माने साहित्यकार और कार्टून कोना डब्बू जी के सर्जक आबिद सुरती जी ने उन्हें फोन किया और कहा, ''आजकल मैं कहानियाँ पढ़ना शुरू करने के बाद ज्यादातर उन्हें अधूरा छोड़ देता हूँ, लेकिन आपकी यह कहानी मैं पूरी पढ़ गया। आपको फोन इसलिये किया कि जिस शख्स ने अपनी पूरी कहानी मुझे पढ़वा दी, उसे मैं कम से कम फोन पर तो बधाई दे दूँ। 'वस्तुतः यह कहानी माँ के चले जाने के बाद की स्थिति में पुत्र और पिता के बीच के रिश्ते की ऐसी कहानी है, जो पाठक के मन पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहती। डॉ. रमाकांत शर्मा बिना कृत्रिम भाषा का प्रयोग किये सीधी-सच्ची और सरल भाषा-शैली में अपनी बात रखते हैं। उनकी यह विशेषता और कहानी का जबरदस्त कथ्य कहानीकार और पाठक के बीच का भेद सहज ही मिटा देता है। इस संग्रह में शामिल सभी कहानियाँ रिश्तों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती हैं और पाठक को बाँधे रखने की अद्भुत क्षमता रखती हैं। इन्हें जरूर पढ़ें और इनका आनंद लें।

पुस्तक समीक्षा-2

डॉ. संजीव कुमार का अभिनव प्रयोगधर्मी काव्य-संग्रह 'मेरे हिस्से की धूप'

समीक्षक : विजय कुमार तिवारी

मेरे हिस्से की धूप काव्य-संग्रह के अपने 'समर्पण' में ही डॉ. संजीव कुमार ने बहुत कुछ संदेश दे दिया है और पीड़ित, प्रताड़ित नारियों के पक्ष में खड़े होते दिखाई देते हैं। इस काव्य-संग्रह का दूसरा संस्करण मेरे हाथों में है जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है मेरे हिस्से की धूप मेरा एक नया प्रयोग था जो एक नये विषय को प्रश्नगत करता है, जिस पर समाज को, विधि को, न्याय को और विशेषकर पुरुष समाज को विचार करना अपेक्षित है। यों तो उन्होंने साहित्य और लेखन की अनेक विधाओं में सृजन किया है, परन्तु उनका कवि रूप संकेत देता है, उनके भीतर भाव-संवेदनाओं का भंडार है। उन्होंने अपने आसपास को गहराई से देखा है, समाज में व्याप्त विसंगतियों को पहचाना है और उनके भीतर की पीड़ा कविता के रूप में सृजित हुई है। कविता के जन्म की यही प्रक्रिया बतायी जाती है, परंतु कविता वहाँ भी जन्म लेती है, जहाँ सुख हो, संघर्ष हो और कवि मन आह्लादित होता हो। कविता के लिए किसी के मन का जुड़ना जरूरी है, दूसरों की पीड़ा से जुड़ना जरूरी है और सबसे जरूरी है, भीतरी मनोभावों को चित्रित करना, लिख देना तथा संसार को परोस देना।

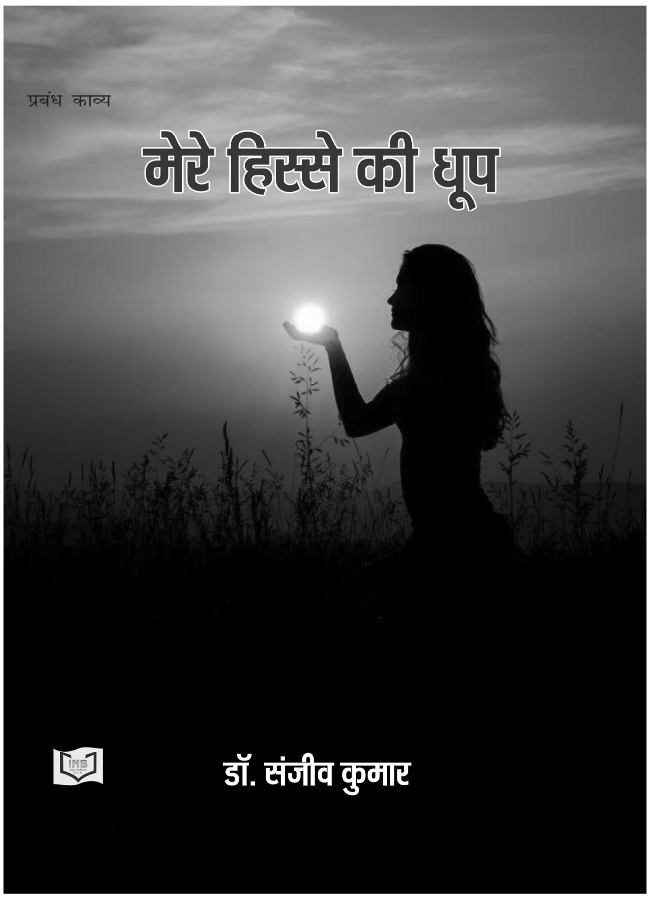

काव्य जीवन का वह भाव है जिसमें सघन रसनिष्पत्ति के क्षण मिले-जुले होते हैं, भाव-संवेदनाएँ, करुणा, प्रेम आदि की बहुलता होती है और कवि-अकवि सभी को उल्लसित व प्रभावित करती है। हमारी चेतना में कोई सरस प्रवाह, उल्लास व जोश से प्रेरित हो, आनन्द की स्थितियों में बहा ले जाता है। हर कविता का मूल उद्देश्य मन को रंजन करना तो होता ही है, साथ-साथ वह पूरी मानवता को सकारात्मक संदेश देती है। साहित्य जीवन को सहज, सुखद और सुगम्य बनाता है। काव्य विधा अपना दायित्व निभाते समय तनिक अधिक प्रभावशाली दिखाई देती है। यह हृदय के संवेगों, भावनाओं के अधिक करीब होती है। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है, हृदय से निःसृत काव्य प्रवाह अधिक प्रभावशाली

होता है या वही सच्ची कविता हशेती है। काव्य मस्तिष्क की उपज नहीं होती या होती भी है तो प्रभावशाली नहीं होती।

समीक्षा के क्रम में मैं पूरी पुस्तक पढ़ता हूँ, रचनाकार के भाव विचारों को समझने की कोशिश करता हूँ और रचना आधारित चिन्तन-मनन करता हूँ। सबसे अच्छा लगता है लेखकों की उड़ान को देखना-समझना और साथ साथ उड़ना। यह तनिक जटिल प्रक्रिया है, परन्तु साहित्य की दृष्टि से रोचक और सार्थक है। प्रायः आलोचक-समीक्षक स्वयं को तटस्थ दिखाना चाहते हैं, ऐसा नहीं होता। समीक्षक हो या पाठक वह भी रचना पढ़ते समय सहयात्रा करने लगता है और लेखक के मनोचिन्तन से जुड़ने लगता है। हो सकता है, साहित्य के पुरोधा सहमत न हों, परन्तु ऐसा स्वीकार कर लेने से बहुत-सी चीजें, मान्यताएँ सुगम हो सकती हैं।

हर संग्रह में कुछ समानधर्मी या समान भाव-विचार की कविताएँ होती हैं, कवि एक ही विषय या प्रसंग से जुड़ी अनेक कविताएँ लिख देता है। उसमें उसकी मूल भावना को समझना शायद अधिक उपयोगी हो या उसका वैचारिक-सैद्धान्तिक पक्ष खुल कर सामने लाया जा सके। ऐसे में साहित्य कहीं अधिक जीवन्त बन पड़ता है। वैसे यह गहन शोध का विषय है, किसी छोटी समीक्षा में इसका निरूपण संभव नहीं है।

'मेरे हिस्से की धूप' प्रबंध काव्य में डॉ. संजीव कुमार ने 34 भाव खण्डों में अपनी कविताओं को विस्तार दिया है। इस प्रबंध काव्य को भाव संवेदनाओं के आधार पर अलग-अलग विचार करना शायद अधिक सुसंगत लगे और साहित्य की कोई नयी धारा प्रवाहित होती दिखाई दे तो इसमें कोई बुराई नहीं है। हर किसी के जीवन में प्रेम का अत्यधिक महत्व है और हर कवि प्रेम की व्याख्या अपने-अपने तरीके से करता है। हमारे जीवन में करुणा, प्रेम सहित नाना भाव-संवेदनाएँ जनमानस को विह्वल-विचलित करती रहती हैं और कवि उससे अछूता नहीं रह पाता। वह रह भी नहीं सकता, क्योंकि उसकी अंतर-संरचना ऐसी बनी है कि विसंगति देखते ही उसका मन चीत्कार करने लगता है और उसकी कलम जय बोलने लगती है।

डॉ. संजीव कुमार की कविताओं में प्रकृति को खूब जगह मिलती है और जीवन के जटिल रहस्य भी उभरते हैं। आदर्श जीवन की कल्पना करना और उस पर जोर डालना हर साहित्यकार करता ही है, क्योंकि समाज की बुराइयाँ उसे विचलित करती हैं और वह खुले मन से उनका निराकरण चाहता है। कभी माना जाता था साहित्य अपने सुख के लिए लिखा जाता है, अब उसमें बदलाव हुआ है। आज का अधिकांश लेखन प्रतिक्रियाओं से जुड़ा हुआ है, क्योंकि लेखक सहित सम्पूर्ण समाज को छोटी-छोटी बातों के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। प्रकृति के बीच रहते हुए सुखद जीवन जीना कभी सहज नहीं रहा, चुनौतियाँ हमेशा रही हैं, परन्तु आज मनुष्य ही मनुष्य के सामने खड़ा है चुनौती बनकर और यह संघर्ष कहीं अधिक जटिल और भयावह है। वह सब कुछ चाहता है परन्तु श्रम करना नहीं चाहता, बल्कि दूसरों से छीन लेना चाहता है। इसका प्रभाव तो पड़ेगा ही। सबसे बड़ी त्रासदी है, आज का लेखक और उसका साहित्य समाज की बीमारी नहीं बताता, बल्कि उन बीमारियों के साथ खड़ा हो जाता है। आज का साहित्य समाज के लिए मशाल नहीं है, बल्कि एक-दूसरे के विरोध में खड़ी विचारधाराओं की मशाल बनकर एक-दूसरे के सामने चुनौती बना हुआ है। इन विषयों पर अधिक शोध, विमर्श और चिन्तन की जरूरत है। अब समय आ गया है और इसे किसी भी हालत में टाला नहीं जा सकता है। उम्मीद है, इस दिशा में साहित्यकारों, समाजशास्त्रियों व समाज के प्रबुद्ध लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा होगा और निश्चित ही शोध व चिन्तन होगा।

डॉ. संजीव कुमार का आमुख, इस प्रबन्ध काव्य में डूबने से पहले पढ़ना चाहिए और दूसरे संस्करण की भूमिका को भी। 'मेरे हिस्से की धूप' की गहन पड़ताल करने के पहले कवि की मान्यता को देखिए, वे लिखते हैं–'प्रेम जिन्दगी में लाता है खुशियों की धूप। उनकी दृष्टि में प्रेम एक पहेली है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या नारी, प्रेम का अभिलाषी होता है। जीवन में प्रेम का अभाव जीवन को बदल देता है।' डॉ. संजीव कुमार लिखते हैं–'प्रेम का

जन्म होता है स्वतंत्रता में, स्वतंत्रता की भूमि में जहाँ कोई बंधन नहीं, जहाँ कोई जबरदस्ती नहीं है, जहाँ कोई कानून नहीं है।' उनका कहना है समाज में प्रेम केवल विवाह की पृष्ठभूमि पर ही स्वीकार्य है। यदि प्रेम चाहिए तो विवाह की प्रक्रिया पूरी करनी होती है।

डॉ. संजीव कुमार प्रश्न उठाते हैं प्रेम की प्राप्ति के लिए क्या विवाह वास्तव में अनिवार्य है? क्या विवाह प्रेम को पैदा कर सकता है।

उन्होंने ओशो के कथनों को उद्धृत किया है, वैदिक ग्रंथों के सन्दर्भ बताए हैं और उपनिषद् एवं स्मृतियों की चर्चा की है। विवाह की आवश्यकता व उनके प्रकारों की चर्चा स्मृतियों में हुई है और उनके बारे में उन्होंने अपने आमुख में विस्तार से लिखा है। प्रेम, परिवार व विवाह को लेकर उनका चिन्तन समझने योग्य है और उनके निष्कर्ष कोई सम्यक् मार्ग दिखाते हैं। उनका यह कथन भी ध्यान खींचता है—"यदि विवाह के बाद पुरुष स्त्री से वैवाहिक बलात्कार में संलग्न होता है तो इसे क्या कहेंगे? इस विषय को और समाज पर पड़ने वाले इसके प्रभावों को उन्होंने समझने-समझाने की कोशिश की है। यहाँ उनके चिन्तन का मनोविज्ञान चमत्कृत करता है और ऐसे प्रसंगों पर रोशनी डालता है। महत्वपूर्ण यह भी है, उन्होंने इस जटिल सामाजिक विमर्श को प्रबन्ध काव्य में बाँधने, समेटने की कोशिश करके कोई नूतन प्रयोग किया है। इसका स्वागत किया जाना चाहिए, ताकि चिन्तन की यह धारा सतत् प्रवाहित, विस्तारित होती रहे और समाज इस चेतना से अनुप्राणित होता रहे। कहानी मात्र इतनी ही है, नायिका किसी से प्रेम करती है, परंतु उसकी शादी किसी दूसरे के साथ सम्पूर्ण सामाजिक स्वीकृति से सम्पन्न होती है। उसका मन सहमत नहीं होता, फिर भी तथाकथित पति मौका पाकर उसके साथ सहवास करता है। नायिका स्वयं को बलत्कृत मानती है, हालाँकि इस संयोग से जन्मा शिशु कुछ हद तक मातृत्व का सुख देता है, परंतु वह संतुष्ट नहीं होती और त्याग करती है। कवि उसे पुराने प्रियतम से मिला दिया है और सारे दृश्यों को खूबसूरती से चित्रित किया है।

कवि के मन में सहज पीड़ा है आया और बीता काल/कहाँ हो सका/समन्वय। उन्हें अपने हिस्से की धूप की तलाश है, परन्तु यह भी पता है, समय बदलता है और मन ऐसे ही भावों में खोया रहता है। उन्हें जीवन का छायामय अनूप रूप दिखाई देता है। जीवन की कथा में कुछ स्वप्न हैं, कहीं आनन्द और कहीं व्यथा है। मिलन के बाद वापस आने पर विकलता और चंचलता व्याप्त रहती है। ऐसा क्यों है, कवि को नहीं पता। उनकी मनःस्थिति देखिए—कुछ संशय सा/कुछ भय सा/और कुछ सत् विचार/खोया रहता/मानस विवरों में/शांत प्यार। नायिका के लिए उनका भाव देखिए—लहराती थी/बल खाती थी/मुस्काती थी/कितना कहना/स्वप्नों में/कभी सताती थी। कवि मन गीत लिखता है और चुपके-चुपके भावों को पढ़ता है। प्रेम से जुड़े बिंब और प्रतीक बाँधने वाले हैं; उसका आना, नयनों के तीक्ष्ण बाण और उसका स्पर्श सब कुछ दहका-महका देने वाला है। उसकी स्थिति है, काफी पलता रहा/हृदय में/मौन प्यार। प्रेमी के जीवन की तत्कालीन मनःस्थितियों का जबरदस्त चित्रण हुआ है। अंजिता, गुंजन व आकांक्षा जिन्हें लेकर उन्होंने विस्तार से अलग काव्य ग्रंथ लिखा है, उन सारी परिस्थितियों को आत्मसात करते हुए वह अपने हिस्से की धूप खोज रहे हैं।

पिता की लाड़ली के लिए वर की तलाश करनी है। वह कहाँ है, नहीं पता, फिर भी प्रयास करते रहना है। कवि नियति को स्वीकार करता है और पुरुषार्थ का आग्रही है। उधर नायिका के मन में कोई बस गया है, उनकी पंक्तियाँ देखिए—देखा करती थी उसे/भाव में भर के/पर हो न सकी उसकी/मैं जी के। मर के। कवि दुखी मन से विह्वल हो पूछता है, 'ऐसा क्यों होता है' उन्होंने नायिका की मनःस्थिति-परिस्थिति का भावपूर्ण वर्णन किया है। उनका यह प्रश्न भी विचारणीय है जो प्राप्य नहीं/उस पर ही/मन क्यों आया। सहज स्वीकार की भाव संवेदना देखिए—संसार/सदा बैरी है/प्रेमीजन का। दुविधाएं, मन की बातें, प्रयास, सपने सब विचलित करने वाले हैं। सब बीत गया है,और अब कोई दूसरा अतिथि आया है। कवि नायिका के मनोभावों को बड़ी सच्चाई के साथ चित्रित करता है—स्वप्नमुग्धा सी/किन्तु निराश/न जाने फिर भी/मन में आस। यह

मनःस्थिति भी देखिए—वही स्मृतियाँ/फिर पंख-पसार/चहक उठती/ज्यों चढ़ता ज्वार। नायिका संकल्पित है भले कोई/ले जाये हाथ, किन्तु यह अमर/रहेगा प्रेम। हृदय के भीतर की भाषा को उन्होंने कभी घूर्णन-कभी उत्खनन, भय, कभी ठोस, कभी तरल, कभी वायु-सी सरल जैसे बिंबों में ढालकर चमत्कृत किया है। वह प्रकृति का सहारा लेते हैं और नाना भाव दृश्य रचते हैं। ऐसा लेखन, ऐसे दृश्य, ऐसे भाव, मनोदशाएँ, लाचारी-मजबूरी कोई अनुभवी, पारंगत ही चित्रित कर सकता है। यहाँ भाषा व शैली चमत्कृत करती है। शब्द अपनी पूरी निष्ठा के साथ प्रकाशित हुए हैं, हिन्दी प्रबन्ध काव्य की कोई उन्नत, दिव्य परम्परा उभर रही है जो पूर्व के महान कवियों से जुड़ती दिखाई दे रही है।

नायिका का नायक के साथ होली खेलने के प्रसंग का चित्रण कवि के अनुभवी मन का दिग्दर्शन है। यहाँ सब कुछ है और कोई उड़ान भी। स्त्री सुलभ भाव, मिलन, आलिंगन के सारे परिदृश्य और तत्क्षण के शब्दों की जीवन्तता रोमांचित करने के साथ-साथ सम्मोहित करने वाली है। पहले किंचित संकोच होता है, दोनों हाथों में रंग भरा हुआ है, पल भर की सलज्ज प्रतीक्षा के बाद सभी बन्ध खुल गये हैं। उनकी पंक्तियाँ देखिए—गूँथते रंगते तन/सहसा/कोमल आलिंगन/महका-महका/बहका-बहका सा/होता मन। उनका यह कृत्य देखिए—जाने किस-किस/पथ से होती वह कर यात्रा/किस-किस अंग पर/स्पर्शों की/कितनी ही मात्रा। उनकी गहरी समझ और दृष्टि देखिए—बहकते नयन/लरजते होंठ/तपते चुम्बन/आँखों में उठती/लहर गुलाबी/श्लथ सा तन। ऐसी स्मृतियाँ भला कौन भुला सकता है बस गई वही स्मृति/साथ रही सारी/पल-पल। अगले प्रसंग में नायिका की दूसरे के साथ शादी हो जाती है। धीरे-धीरे सब कुछ सहज होता जाता है—पाकर उनका स्वीकार्य/चैन कुछ आया/सबने समझा/मैंने जीवन धन पाया। पिता का उपकार मान, तरुणाई का सारा प्रेम भूल कर वह ससुराल आ गयी है। कवि ने सारे रीति-रिवाजों को शब्द दिया है और हर प्रसंग को रोचक तरीके से लिखा है, देखिए—नया पथ/और नयी थी चाल/हो उठे सिंदूरी से गाल। वह नयी उमंग और नये उत्साह के साथ ससुराल आती है। यहाँ ध्यान देने वाली बातें हैं दुल्हन के मनोभावों को, उसके भय, संशय और उत्साह को कवि ने यथार्थतः चित्रित किया है और पाठकों के मन में कोई हिलोर पैदा कर दी है। यहाँ शरीर का सौन्दर्य दिखाना उनका उद्देश्य नहीं है, बल्कि ऐसी परिस्थितियों में मन के वेग-संवेग, भीतर का प्रेम, मिलन आदि के भाव और दुल्हन का मनोविज्ञान लोगों तक संप्रेषित करना है। कवि का परिपक्व अनुभवी मन खूब मुखरित हुआ है।

काव्य में कोई प्रवाह होता है और संगीतात्मकता होती है। जबकि संवाद कहानी व उपन्यास के लिए आवश्यक हैं। यहाँ कवि ने बहुत कुछ आत्म-चिन्तन या नायिका के मन की उधेड़बुन को चित्रित किया है। सहज नहीं है, स्त्री के मन को समझना और उसके मनोभावों को काव्य भाषा में पुष्पित-पल्लवित करना। यहाँ कोई नारी विमर्श भी नहीं है, बल्कि स्त्री मन की सघन पड़ताल है। वैसे तो ये सारे दृश्य जाने-पहचाने हैं, परन्तु कवि की अपनी दृष्टि ने सहज शब्दों के माध्यम से मानो जान फूँक दी है। सब कुछ अच्छा होते हुए भी नायिका भय-संशय की भावनाओं से घिरी रहती है—उन्मुक्त नहीं/यह जेल सदृश/घर लगता। यह स्थिति भी देखिए—सहमे-सहमे रहना/सबके मुख पर तकना/खुश रहें सभी/बस यह प्रयास/करते रहना। उन्होंने इस तरह हर स्त्री के तत्कालीन द्वन्द्व को समझने-समझाने की कोशिश की है। नायिका किसी अनहोनी जैसी अनुभूति से विस्मित होती है—कुछ-कुछ अजीब था/बना हमारा साया/विश्वास न होता/देख उन्हें बच्चों सा। पति सामान्य नहीं है, बल्कि उसका व्यवहार बच्चों जैसा है। कवि ने यहाँ किसी ठगी गई स्त्री की दुःसह पीड़ा का चित्रण किया है और उसके मार्मिक भावों को शब्द दिये हैं—कितने सपनों/कितनी चाहतों को पाला/पर विधि ने कैसा बैर/था मुझसे निकाला/वह बस पागल सा/मुझको देखा करता/कुछ बात नहीं करता/कैसा भर्ता था। यहाँ नायिका संकल्पित होती है। मैंने स्पर्शों से दूर/बनाई दुनिया। हमारे समाज की यह कोई विडम्बना ही है, शादी के नाम पर धोखा होता है और किसी पागल या कमजोर से शादी करवा दी जाती है। ऐसा ही शायद कुछ हुआ है और कवि ने गहरे पीड़ित मन से यह मार्मिक प्रबन्ध काव्य रच डाला है।

दुख आना है तो उसे कोई रोक नहीं पाता। किसी-न-किसी रूप में वह प्रकट हो ही जाता है। यहाँ दृश्य देखिए—खोले किवाड़/और वह चुपके से आये/बल के प्रयोग से/अपना मुझे बनाये। कवि के शब्द देखिए—खामोश/बलत्कृत/क्रोध भरे मेरे मन में/महसूस कर रही थी/केंचुए से तन में। यह भाव/विह्वल करने वाला है/अस्मिता हमारी लुटी/हृदय भी टूटा/मेरे मन को बन दस्यु/अचानक लूटा। यह प्रसंग चिन्तन का कोई नया द्वार खोलता है और जटिल प्रश्न उभरता है। नायिका ऐसे सम्बन्ध से आहत है और कवि ने उसके व्यथित मन को खूब विस्तार दिया है, टूट से गये/सभी सम्बन्ध/टूट से गये/सभी अनुबन्ध। ऐसे सम्बन्ध को नायिका बलात्कार समझती है और लाँक्षित, पीड़ित महसूस करती है।

कहानी आगे बढ़ती है—तन की गहराई में/एक फूल खिला था/अँकुर उग आया/जैसे कोई मिला था/मातृत्व भाव ने/दुनिया नयी बनायी/थोड़ी सी खुश/थोड़ी सी मैं घबरायी। ऐसे हालात में जीना या कोई निर्णय ले पाना सहज नहीं होता। नायिका संकल्पित होती है अब गर्भपात की बात/न होगी कोई। उसे कोई सहारा मिल गया है आलंबन सा मिल गया/मुझे जीने का। वह कहती है एकाकी मैं पालूँगी/अपना बेटा/कोई कुछ कहे करे/मेरा धन बेटा/मेरे जीवन का/होगा वही सहारा/मेरा संबल/जीवन का होगा प्यारा। कवि कुछ दार्शनिक चिन्तन करता है। जीवन के कठिन पलों को/जीना मन से होता है/यदि मन टूटा या बिखरा/तो जीवनभर रोता है। वह भी जीवन रहस्य समझने लगी है—झंझावातों में मुझको/नौका खुद ही खेनी है/यह समझ आ गया मुझको/अपनी आहुति देनी है। मन में प्रश्न और पीड़ा है क्यों छल करके/बल से/यूँ मुझको नोचा/मेरे मन के घावों का/कभी न सोचा।

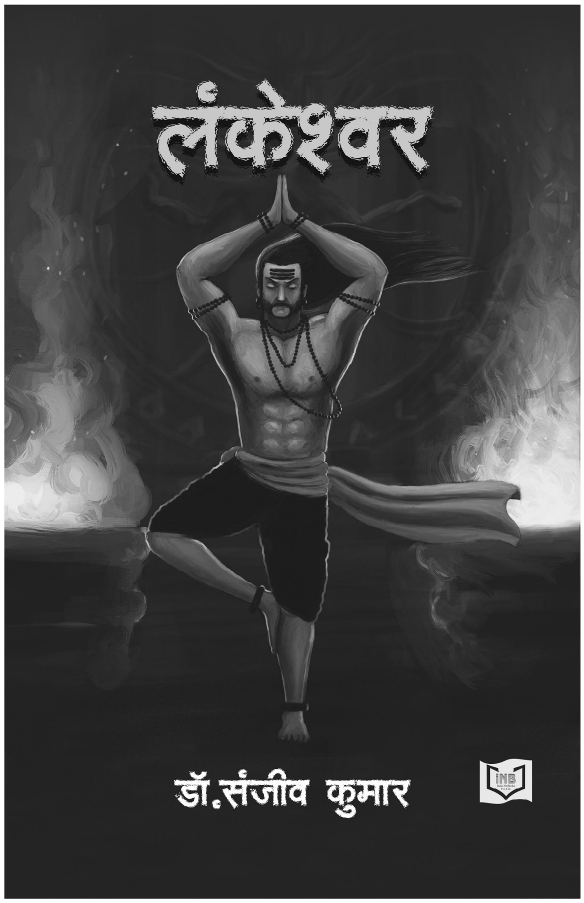

स्त्री पुत्र को जन्म देकर पूर्णता प्राप्त करती है। कवि की कथा की नायिका नवजात शिशु के कोमल हाथों को छूकर सुखानुभूति करती है। उसका जीवन बदल गया है, उसने वह घर-द्वार छोड़ दिया है और अपने पुत्र के लालन-पालन में लग गयी है।

नायिका का निश्चय देखिए—अपने पैरों पर/खड़ा मुझे था होना/सारा कलंक कैसे भी/मुझको धोना। उनका भाव देखिए—मेरे हिस्से की धूप/मुझे मिल जाती/सोचती कि मन कलिका/मेरी खिल जाती। कवि नायिका की स्थिति चित्रित करता है—यौवन का मैं दुःभार/संभाले चलती/लोगों की दृष्टि ताप में/पल-पल गलती। पुनर्विवाह की बातें होतीं, परन्तु मन करुणा से भर जाता था। यहाँ उन्होंने नायिका के प्रश्नों-मनोभावों, स्थितियों-परिस्थितियों को खूब मुखरित किया है। उसे बार-बार अपना पूर्व प्रेम याद आता है और प्रार्थना करती है—प्रार्थना यही वह/एक बार ही आये/आकर मेरे जीवन को/धन्य बनाये। कभी-कभी उनका दिख जाना सुख से भर देता/ उनकी आवाज सुनकर शरीर काँपने लगता

और उनकी क्षणिक स्मृतियों से मन खिल उठता था। कवि मन के विज्ञान को समझता है और ऐसे में स्मृतियाँ पश्चात्ताप की ज्वाला से जलाने लगतीं। नायिका पूर्व प्रेमी की यादों में खोई रहती है—यह तन-मन तो तेरा था/पर चुरा ले गया कोई। वह कहती है—मैं वापस/अब तेरी हूँ/तेरी हूँ तन से, मन से। वह यह भी कहती है—अब मैं और यह शिशु मेरा/आजन्म रहेगा तेरा। यहाँ प्रेम है, विषाद है, समर्पण के भाव हैं और गहन आकांक्षा है।

डॉ. संजीव कुमार ने अपने इस प्रबन्ध काव्य—'मेरे हिस्से की धूप' में नायिका के जीवन की त्रासदी, उसकी पीड़ा, उसका दुख और कलंकित जीवन को समझा है। पूरा काव्य सहज शब्दों में उपलब्ध है और जीवन के गूढ़ प्रश्न झकझोरते हैं। उन्होंने यहाँ मधुर यामिनी और उत्कंठ रागिनी के संयोग का चित्रण किया है।

यामिनी और रागिनी के साथ विशेषण के रूप में मधुर और उत्कंठ किंचित रोमांचित करने वाला है। मिलन का प्रभाव देखिए—कम्पित तन, कम्पित धड़कन/धीरे-धीरे वह करती/मैं जड़-सी लगती स्थापित/उसकी बाँहों में लगती। तन-मन, साँसें आदि की दशा विचित्र है—पल-पल लगता था स्वर्गिक/मन पिघल-पिघल जाता था।

यहाँ वह किसी से मिलकर नूतन आलोक का अनुभव करती है और ये सारे बिंब, प्रतीक कोई भिन्न कहानी लिख रहे हैं, पर अब जो है मेरा है/चाहे वह और किसी का/आत्मा है आज प्रफुल्लित/वह संबल है कश्ती का। नायिका की पुकार देखिए—आओ साजन अब आओ/मैं जन्म-जन्म की प्यासी/बिन तेरे इस जीवन में/संग मेरे मात्र उदासी। वह नये सिरे से संकल्पित है, खुश है। मैं नयी-नयी सी लगती/खुद हाथ देख शरमाती/वह प्रणय रागिनी सुनकर/मैं फूली नहीं समाती। नायिका विश्वास से भरी हुई है, मिलन को लेकर अब वह घबराती नहीं, दूरियाँ कम हो गयी हैं, दूरभाष पर खूब बातें हो रही हैं, अंततः मिलन की रात मिल ही जाती है, मैंने तन-मन से/उसको था अपनाया।

वह खुश है, कवि खुश है—मेरे हिस्से की धूप/उतरती आँगन/संकेतों से हो गया/प्रफुल्लित तन-मन। उसका संतोष देखिए—ये खैर कि अब/हो गये साथ वह मेरे/सब कुछ होता है/सदा भाग्य के प्रेरे। वह मिलन के लिए चल पड़ी है—हे काश पंख होते/मैं उड़कर जाती/जल्दी उनकी बाँहों में/हाय समाती। ऐसी उत्कंठा, ऐसा उत्साह, लम्बी प्रतीक्षा के बाद मिलन की घड़ी में स्वाभाविक ही है। काव्य के अंत में नायिका नायकत्व धारण करती है, स्वयं अपने प्रियतम के पास पहुँचती है। कवि ने हर दृश्य को मार्मिक और जीवन्त किया है—पहला पग रखते अन्दर/मैं सकुचाई/लज्जा की कोमल किरण/उभर कर आई। आलिंगन, स्पर्श, निकटता, नायिका आकंठ डूबती गयी है। कवि की तुलना देखिए—डोलते स्पर्श तन पर/वीणा का वादन/स्वर्गिक होता आनन्द/पिघलता सावन। अनुभवी कवि ने मिलन के इस पल को चित्रित करने में अपनी कलम तोड़कर रख दी है और बहुत कुछ लिख दिया है। नायिका पूर्णतः संतुष्ट है, बिखरी तन-मन पर धूप/मेरे हिस्से की।

इसी भाव की अंतिम पंक्ति देखिए—

मेरे हिस्से की धूप,
मेरे आँचल में।
थी बदल गई दुनिया,
बस एक ही पल में।।

इस तरह देखा जाए तो डॉ. संजीव कुमार ने एक ओर स्त्री की प्रेम, शादी, बिना सहमति के सहवास, पुत्र जन्म, पलायन और पूर्व प्रेमी के साथ पुनर्मिलन आदि प्रसंगों को जीवन्त तरीके से लिखा है और दूसरी ओर अनेक स्वाभाविक प्रश्न उठाये हैं। उनका चित्रण भावुक करता है, स्त्री-मन की पीड़ा को सहजता से अभिव्यक्ति देता है और स्त्री के पक्ष में न्याय की गुहार करता है। प्रकारान्तर से उन्होंने पुरुषों के सामने स्त्री के मनोभावों को खोलकर रख दिया है कि किस तरह कोई स्त्री स्वयं को समर्पित करने के लिए तत्पर रहती है और किन परिस्थितियों में विरोध करती है। उन्होंने सामयिक शब्दों के साथ भाव-संवेदनाएँ प्रकट की हैं और उनकी शैली विह्वल करती दिखाई देती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर यह प्रबन्ध काव्य पाठकों की चेतना को गहरे तौर पर झकझोरता है।

साहित्य समाचार-1

डॉ. संजीव कुमार को गणेश शंकर विद्यार्थी सम्मान

रिपोर्ट : जयराम 'जय'

डॉ. संजीव कुमार को गणेश शंकर विद्यार्थी सम्मान साहित्य अर्पण सजीव व मंच दुबई द्वारा एक साहित्यिक अनुष्ठान 17 जुलाई, 2024 को कानपुर में प्रदान किया।

प्रख्यात कवि शिवकुमार सिंह कुँवर की अध्यक्षता में हुए कार्यक्रम में 'मैरीलैण्ड स्टेट यूनिवर्सिटी' डी.लिट. की उपाधि से अलंकृत डॉ. संजीव कुमार को उनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए शिप्रा ज्ञानेन्द्र सिंह ने प्रदान किया।

इस अवसर पर डॉ. संजीव कुमार जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रसिद्ध कवि एवं गीतकार जयराम 'जय' ने विस्तार से प्रकाश डाला।

डॉ. संजीव कुमार के सम्मान में हुई साहित्य अर्पण की अविरल अवधारा के अंतर्गत वर्षा मंगल कवि गोष्ठी का भी आयोजन किया गया था। जिसे डॉ. राधा शाक्य ने शारदीय वंदना से प्रारंभ किया।

कवि गोष्ठी में श्री शिव कुमार सिंह कुंवर, डॉ. संजीव कुमार, डॉ. राधा शाक्य, राघवेंद्र भदौरिया, डॉ. अरुण तिवारी गोपाल, नीरू निरालिन, मुरली कबीर, शिप्रा ज्ञानेन्द्र एवं जयराम जय आदि ने गीत-ग़ज़ल एवं छंदों की रस वर्षा करके सरस बनाया।

डॉ. संजीव कुमार ने कानपुर के कवियों और कविताओं की प्रशंसा करते हुए इंडिया नेटबुक्स द्वारा एक संकलन प्रकाशित करने की घोषणा की।

संकलन के संपादन का कार्य श्री जयराम 'जय' को सौंपा गया।

जिसे उन्होंने सहजता से स्वीकार कर लिया।

अंत में संयोजक शिप्रा सिंह ने उपस्थित कवियों और श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया।

साहित्य समाचार-2

कथाबिम्ब के प्रकाशन की निरंतरता के लिए उसके प्रकाशन की जिम्मेदारी हमने अधिग्रहीत कर ली है।

रिपोर्ट : डॉ. संजीव कुमार

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

कथाबिम्ब

तदनुसार आप को सूचित करना है कि–

1. कथाबिम्ब का प्रकाशन अब नोएडा से होगा।

2. इसके प्रकाशक एवं मुख्य संपादक डॉ. संजीव कुमार होंगे।

3. इसकी संपादकीय संरचना निम्न प्रकार होगी।

मुख्य संपादक : संजीव कुमार

संपादक : श्री प्रबोध गोविल

प्रबंध संपादक : डॉ. मनोरमा

कार्यकारी संपादक : कामिनी मिश्रा

सहायक संपादक : कविता मुखर

संपादन परामर्श मंडलः

1. श्री नंद भारद्वाज
2. श्री अनूप भार्गव
3. श्री तेजेन्द्र शर्मा
4. श्री हरिसुमन बिष्ट
5. श्रीमती संतोष श्रीवास्तव
6. श्रीमती उर्मिला शिरीष
7. श्री विजय कुमार तिवारी

4. अब आप अपनी रचना 826/gmail.com पर भेज सकते हैं।

5. वर्तमान सदस्यों की सदस्यता यथावत जारी रहेगी।

6. अब सदस्यता प्राप्त करने के लिए या सदस्यता संबंधित किसी भी जानकारी के लिए आप कथाबिंब सी 122, सेक्टर 19, नोएडा 201301, पर संपर्क कर सकते हैं।

संपर्कः 9710047739 या 9873561826

फॉर्म-5

समाचार-पत्र के स्वामित्व एवं अन्य विवरणों सम्बन्धी उद्घोषणा, जिसे प्रत्येक वर्ष के
प्रथम अंक में फरवरी के अन्तिम दिवस के बाद प्रकाशित किया जाना है।

1. प्रकाशन का स्थान : सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

2. प्रकाशन का समय काल : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : बालाजी ऑफसेट,
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : (न्यू-एम-28), 1/11844, उल्धनपुर, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

4. प्रकाशक का नाम : डॉ. संजीव कुमार
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

5. सम्पादक का नाम : डॉ. संजीव कुमार
राष्ट्रीयता : भारतीय
एड्रेस : सी-122, सेक्टर-19, नोएडा-201301, गौतमबुद्ध नगर, (दिल्ली एनसीआर)

6. समाचार-पत्र का स्वामित्व रखने वाले व्यक्ति और साझेदार या अंशधारक जो कुल पूंजी का 1 प्रतिशत से अधिक धारित करते हों, का नाम और पता (100 प्रतिशत), डॉ. संजीव कुमार

मैं डॉ. संजीव कुमार, एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरे संज्ञान एवं विश्वास में सत्य है।